गोमटेश गाथा

नीरज जैन
एम ए



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक 413
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन जगदीश, डॉ विमलप्रकाश जैन

Lokodaya Series Title No 413
GOMATESH GATHA
(*Novel*)
First Edition 1981
Price Rs 25/



गोमटेश गाथा
(उपन्यास)
नीरज जैन

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/45 47 कनॉट प्लेस नयी दिल्ली 110001
प्रथम संस्करण 1981
मूल्य पच्चीस रुपये

मुद्रक
मित्तल प्रिण्टर्स शाहदरा दिल्ली 32

आर्यिका विशुद्धमती माताजी का आशीर्वचन

अन्तर्ध्वनि

जिस प्रकार द्रव्य प्राण और भाव प्राण के सामंजस्य का नाम जीवन है, उसी प्रकार द्रव्य और भाव दोनों की सम्यक् अभिव्यंजना का नाम कला है। सत् का सहारा लेकर चलनेवाली कल्पना ही यथार्थ कला होती है। कोरी कल्पना कला नहीं कही जा सकती।

देहयष्टि जीर्ण होते हुए भी जैसे वृद्ध पुरुष की चेतना यथार्थ और अपने आप में परिपूर्ण होती है उसी प्रकार जैन वाङ्मय की पौराणिक कथाएं पुरातन होकर भी जीवन्त और परिपूर्ण हैं। योगीश्वर गोमटेश बाहुबली की गौरव-गाथा ऐसी ही एक अति प्राचीन कथा है जिसकी जीवन्तता आज भी निर्विवाद है।

जिस प्रकार एक चतुर शिल्पकार पूर्व भवों के संस्कार एवं परम्परा से प्राप्त अनुभवों के आधार पर अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति अडिग संकल्प एकान्त चिन्तन, सदाचार मिताहार निर्लोभ वृत्ति अहंकार निवृत्ति और मन-वचन तथा इन्द्रियों के यथासाध्य संयम की साधना के बल पर दुर्भेद्य शिलाखण्डों में भी, अपने साध्य को साकार कर लेता है उसी प्रकार साहित्यकार भी पूर्व पुण्य के योग से दृढ़ इच्छाशक्ति और आन्तरिक श्रद्धा भक्ति के बल पर पौराणिक कथाओं के शब्द पात्र में भावाभिव्यंजना भरकर उन्हें जीवन्त सदृश सुग्राह्य और सुरुचिपूर्ण बना देता है।

श्री नीरज जैन साहित्याकाश के एक ऐसे ही आभावान नक्षत्र हैं। उनकी सशक्त लेखनी ने सुललित भाषा सुन्दर वाक्य विन्यास मधुर संबोधन एवं अनुपम काव्य सौष्ठव के माध्यम से दीर्घकाल पूर्व ज्योतिर्मान भगवान् बाहुबली की पुण्यकथा की शीतल धारा से हृदय पटल को वैसा ही अभिसिंचित कर दिया है जैसा पोदनपुर के वन प्रान्त में षट्खण्डचक्रवर्ती भरत द्वारा स्थापित लता गुल्मों से आवेष्टित और विषधर समूहों से मण्डित योगचक्रवर्ती बाहुबली की अनुकृति को श्रवणबेलगोल के विन्ध्य शिखर पर सहस्र वर्ष पूर्व सिद्धान्तचक्रवर्ती

नेमिचन्द्राचार्य के आशीर्वाद से भक्तिचक्रवर्ती चामुण्डराय की प्रेरणा से शिल्प चक्रवर्ती रूपकारने मूर्तिमान करके, काललदेवी आदि भक्तों के समूह को प्रथम दर्शन के अमृत जल से अभिसिंचित कर दिया था।

शस्य श्यामला धरा को आप्लावित करनेवाली जल-वाहिनी जैसे गिरि-खण्डों से निकलती हैं वैसे ही कर्नाटक के श्रवणबेलगोल में स्थित अपने स्मृति कोष में सुदूर अतीत से वर्तमान सहस्राब्दी महोत्सव पर्यन्त के समस्त घटनाचक्र का सुरक्षित रत्नभंडार चन्द्रगिरि के मुख से, श्रद्धालु पथिक के प्रति वात्सल्य रस से ओतप्रोत सम्बोधन कराते हुए गोमटेश भगवान की उद्‌भव गाथा और अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी तथा अंतिम मुकुटबद्ध नरेन्द्र चन्द्रगुप्त (प्रभाचन्द्र मुनि राज) की पावन गौरव गाथा रूपी त्रिवेणी का तपःपूत धवल कीर्तिमान् नेमिचन्द्राचार्य सम्यक्त्वरत्नाकर चामुण्डराय परिवार एवं महासती अत्तिमब्बे आदि की पुण्य गाथा रूपी उप धाराओं को सम्मिलित करके ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर सुचारु रीत्या अतीव रोचक ढंग से लेखक ने प्रवाहित कराई है। आख्यान की यह पुण्य वाहिनी, धवल यश प्राप्त भगवान् बाहुबली की अद्वितीय मनोहर प्रतिमा सदृश भव्यजन रूपी कृषकों को युग-युग तक धर्म रूपी उत्तम फल प्रदान करती रहेगी।

इस गोमटेश-गाथा में कहीं अकम्प और निश्चल गोमटेश्वर की महिमा का अपूर्व दर्शन होता है कहीं भद्रबाहु स्वामी की परम समाधि रूपी विजयपताका की उपलब्धि का दृश्य दिखाई देता है कहीं चन्द्रगुप्त नरेन्द्र को आत्म द्रव्य की राजधानी में आत्मगुण रूपी असंख्य प्रजा और रत्नत्रय धर्म रूपी अक्षय कोष के उपभोग का आधिपत्य मिलता है कहीं दीक्षागुरु भद्रबाहु स्वामी की वैयावृत्त का एकाधिकार अनुभव में आता है। कहीं उस लोकोत्तर प्रतिमा के उद्भावन के लिए नेमिचन्द्राचार्य का गहन चिंतन और निर्देश परामर्श की विलक्षणता अनुभूत्य है, कहीं स्तुति के छन्दों में उनकी भाव विह्वलता का आस्वादन होता है।

इस गाथा में कहीं उदारमना चामुण्डराय की अपूर्व मातृभक्ति अनुकरणीय दानवृत्ति और अतिशय जिनभक्ति का चित्ताकर्षक दृश्य सामने आ जाता है, कहीं पण्डिताचार्य की कार्यकुशलता एवं राग विराग के युद्ध में विराग की विजय का सुन्दर स्मरणीय चित्रण है। कहीं तृष्णा नागिन की विषदंष्ट्रा से संतप्त शिल्पकार का मनस्ताप और मान-वचन के गरुडमणि द्वारा विष-वमन के उपरान्त उसकी अभूतपूर्व एकाग्र तृप्ति का सुखानुभूति का हृद स्पर्शी चित्रण है कहीं जिनदेवन का अदम्य उत्साह कार्यक्षमता एवं कर्त्तव्य निष्ठा का अनुकरणीय कथन है। कहीं काललदेवी की अंतरिक जिन भक्ति के साथ युक्ति और शक्ति का सहज गठबंधन दृश्यमान है कहीं अजितादेवी की गार्हस्थिक निपुणता एवं सासु के प्रति कर्तव्य पालन का अनुकरणीय उदाहरण है। कहीं योग्य गृहिणी सरस्वती देवी की

प्रबन्ध कुशलता और स्नेहपूर्ण अतिथि सत्कार के साथ उसके श्रेष्ठ मर्यादित कार्य जन-मन को मोह लेते हैं। कहीं बालक सौरभ की धार्मिक संस्कारों से युक्त बालचेष्टाएँ मन को लुभाती हैं। कहीं गुल्लिका-अज्जी की लघुकाय गुल्लिका में से अक्षय घट-सी निसृत दुग्ध धारा के द्वारा गोमटेश के प्रथम महामस्तकाभिषेक की अनुपम अनुभूतियों का आस्वादनीय अभ्यन्तर है। इस प्रकार गद्यकाव्य-सा प्रवहमान यह आख्यान धार्मिक एवं गार्हस्थ्य जीवन के प्रत्येक पक्ष का परिचायक तथा जीवनोत्थान के सुगम मार्ग का निदर्शक है।

लेखक ने अपनी तन्मयता से इस गोमटेश-गाथा के बहाने काल सम्बन्धी सहस्रों शताब्दियों के अन्तर को वर्तमान के अंचल में अंकित कर लिया है। क्षेत्र सम्बन्धी कर्नाटक प्रान्त की दूरी को अपने स्वाध्याय कक्ष में समेट लिया है और विभिन्न पात्रों के मनोजगत में उदित होनेवाले राग-विराग, लोभ-उदारता, तृष्णा और संतोष आदि के अन्तर्द्वन्द्वों को पाठक की अनुभूति में समाविष्ट कर दिया है।

गृहस्थावस्था में प्रज्ञावान् अग्रज होने के नाते नीरज जी ने मुझ से अधिक से अधिक देने का प्रयास किया, किन्तु मेरी मति गुल्लिका, गुल्लिका-अज्जी की गुल्लिका सदृश लघुकाय ही थी, अतः मैं कुछ अधिक नहीं ले सकी। अब उस में से भला उन्हें क्या दिलाना और कैसे दे सकती हूँ? हाँ, गोमटेश गाथा की इस पाण्डुलिपि को देखकर मेरी अन्तरात्मा से यह अन्तर्ध्वनि अवश्य निकलती है कि उनकी यह अनुपम कथाकृति यशरूपी रथ पर आरूढ़ होकर दिग्दिगन्त में युग युगान्त तक पर्यटन करती हुई जन मन का कालुष्य हरती रहे और वे स्वयं शीघ्राति-शीघ्र चारित्र रथारूढ़ होकर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हों। इति शुभम्।

शरत पूर्णिमा
२३-१०-८०

—आर्यिका विशुद्धमती

आमुख

श्री नीरज जैन की प्रस्तुत कृति को मैंने केवल पढ़ा ही नहीं है अपितु लेखक के मुख से इसके कई महत्वपूर्ण प्रकरण सुने भी हैं। पुस्तक की कथावस्तु पर और इसके संयोजन पर उनसे बराबर चर्चा होती रही है। गोमटेश गाथा को नीरज जी ने इतनी रोचक शैली में संयोजित किया है कि वह तथ्यों को अभिव्यक्त करते हुए एक सहज लोक कथा बनी रहती है और एक सामान्य पाठक भी उसे अन्त तक पढ़ने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता।

लेखक से मेरा *प्रथम परिचय दो वर्ष पूर्व जब मैं बुन्देलखण्ड के तीर्थों की यात्रा* कर रहा था हुआ। उससे पहले मैं सोचता था कि वे जैन शिल्पकला के विशेषज्ञ हैं और मात्र कला विषयों की ही चर्चा करते हैं। किन्तु इस कृति को पढ़कर अब मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि भगवान गोमटेश्वर की सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना और महामस्तकाभिषेक के अवसर पर जो साहित्य मेरे देखने में आया है उसमें इस कृति का शीर्षस्थ स्थान है।

पुस्तक के कुछ अंश ऐसे भी हैं जिनके भीतर से लेखक के जीवन संघर्ष की झांकी मिलती है। मैंने उनके ताश के बावन पत्ते पुस्तिका भी देखी है लेखक ने अपने 52 वर्षों के जीवन संघर्ष का आत्म निरीक्षण उस कृति के माध्यम से किया है। यह स्वयं निरीक्षण की कला बड़ी [illegible] एवं मार्मिक मुझे प्रतीत होती है।

गोमटेश गाथा के प्रारम्भ के [illegible] प्रकार नियोजित किया गया है कि श्रवणबेलगोल से सम्बन्धित [illegible] सामग्री बड़ी कुशलता से [illegible] है। विशेषकर [illegible] त्रिवेणी' शीर्ष[illegible] [illegible], सांस्कृतिक, [illegible] से [illegible]

'गोमटेश गाथा' की एक विशेषता यह है कि नीरज जी ने इतिहास और संस्कृति की विपुल सामग्री के सागर में से मोती चुनकर साहित्य के लिए कण्ठहार तयार कर दिया है। पुस्तक का प्रत्येक अध्याय जानकारी कोष है किन्तु कहीं भी इसे बोझ नहीं बनने दिया गया है।

प्रसग के अनुसार पौराणिक गाथा और इतिहास के तथ्यों की विवेचना है। कालचक्र का प्रवत्तन भोगभूमि का वभव और उसका ह्रास उसके उपरांत कर्म भूमि का उद्भव व विकास श्रुतज्ञान की परम्परा आचार्य भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त के ऐतिहासिक तथ्यों से लेकर सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य तथा भगवान् बाहुबली की मूर्ति के प्रतिष्ठापक प्रतापी चामुण्डराय के इतिवृत्त तक, जो कुछ जानने योग्य है सब सार रूप म इस पुस्तक म आ गया है।

विन्ध्यगिरि के शिखर पर प्रतिष्ठित विशाल खडगासन मूर्ति का पुस्तक में जो अलौकिक दृश्य अंकित किया गया है उसके अनुरूप भाव और भाषा एक कवि हृदय ही पा सकता है। इतिहास के तथ्यों को यथासम्भव सुरक्षित रखते हुए, जहाँ भी कथानक के चित्रण ने भावनाओं को प्रेरित किया है वहाँ नीरज जी की कल्पना मुखर हो गयी है। तथ्यों का सपाट वर्णन इतिहास कर सकता है जहाँ आकृति का ढाँचा खड़ा कर देने से काम चल जाता है किन्तु साहित्य की रचना तब सम्पूर्ण होती है जब ढाँचे म प्राणों का स्पन्दन होने लगे। ऐसा स्पन्दन लेखक ने स्वय तो अनुभव किया ही है पाठकों तक भी उसे पहुँचाया है। भगवान् बाहुबली की मूर्ति के दर्शनों के लिए पोदनपुर की जिस यात्रा की व्यवस्था चामुण्डराय ने अपनी माता की अभिलाषा पूर्ति के लिए की थी उस यात्रा का विवरण कहीं भी पोथियों म नहीं मिलता। यात्रियों म माता काललदेवी उनके गुरु आचार्य नेमिचन्द्र, पुत्र चामुण्डराय और चामुण्डराय की पत्नी अजितादेवी की नामावलि सहजता से सोची जा सकती है। किन्तु सघ की यात्रा को सजीव और सम्पूर्ण बनाने के लिए नीरज जी ने चामुण्डराय के पुत्र जिनदेवन पुत्रवधू सरस्वती और पौत्र सौरभ को रूपायित किया है। एक भरा पूरा राज परिवार श्रावकोचित मर्यादाओं के सारे आयोजनों का धर्म गुरुओं के निर्देशन म सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चरित्र की महिमा से मण्डित करता है नीरजजी की यह कल्पना दृष्टि कथा को नया आयाम देती है। साहित्यिक रचना प्रसंग भी हो 'गोमटेश गाथा' इसका उदाहरण है।

अन्त के कई अध्यायों मे कथा का विस्तार कितना आवश्यक था इसमें मत भेद हो सकता है किन्तु लेखक का यह आग्रह स्पष्ट दिखाई देता है कि जिस विशाल परिवेश म गोमटेश स्वामी की मूर्ति का निर्माण हो रहा है जहाँ जिनदेवन और सरस्वती अपने अपने दायित्वों के निर्वाह म तन मन से लगे हुए हैं उस परिवेश को जीवन्तता दी जाये। इसके लिए शिल्पी क (जिसे नीरजजी ने अरिष्टनेमि

आमुख

श्री नीरज जैन की प्रस्तुत कृति को मैंने केवल पढ़ा ही नही है, अपितु लेखक के मुख से इसके कई महत्वपूण प्रकरण सुने भी हैं। पुस्तक की कथावस्तु पर और इसके सयोजन पर उनसे बराबर चर्चा होती रही है। 'गोमटेश गाथा' को नीरज जी ने इतनी रोचक शैली म संयोजित किया है कि वह तथ्यों को अभिव्यक्त करते हुए एक सहज लोक कथा बनी रहती है और एक सामान्य पाठक भी उसे अन्त तक पढ़ने के लोभ का सवरण नही कर सकता।

लेखक से मेरा प्रथम परिचय दो वष पूव जब मैं बुन्देलखण्ड के तीर्थों की यात्रा कर रहा था हुआ। उससे पहले मैं सोचता था कि वे जैन शिल्पकला के विशेषज्ञ हैं और मात्र कला विषयो की ही चर्चा करते हैं। किन्तु इस कृति को पढ़कर अब मैं नि सकोच कह सकता हू कि भगवान गोमटेश्वर की सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना और महामस्तकाभिषेक के अवसर पर जो साहित्य मेरे देखने म आया है उसमे इस कृति का शीपस्थ स्थान है।

पुस्तक के कुछ अश ऐसे भी हैं जिनके भीतर से लेखक के जीवन सघर्ष की झाकी मिलती है। मैंने उनके 'ताश के बावन पत्ते' पुस्तिका भी देखी है, लेखक ने अपने 52 वर्षों के जीवन सघप का आत्म निरीक्षण उस कृति के माध्यम से किया है। यह स्वय निरीक्षण की कला बहुत ही अनूठी एव मार्मिक मुझे प्रतीत होती है।

गोमटेश गाथा क प्रारम्भ के अध्यायो को इस प्रकार नियोजित किया गया है कि श्रवणबेलगोल से सम्बंधित सारी परिचयात्मक सामग्री बड़ी कुशलता से प्रस्तुत कर दी गई है। विशेषकर 'देव शास्त्र गुरु की पावन त्रिवेणी' शीपक अध्यायों म—वहाँ इस सतापहारी परम पावन तीर्थ के धार्मिक सास्कृतिक ऐतिहासिक और पुरातात्विक महत्व को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से सस्थापित करनेवाले महापुरुषो की अमर गाथा को ज्ञान और श्रद्धा की दीप-ज्योति से उजागर किया गया है।

'गोमटेश गाथा' की एक विशेषता यह है कि नीरज जी ने इतिहास और संस्कृति की विपुल सामग्री के सागर में से मोती चुनकर साहित्य के लिए कण्ठहार तैयार कर लिया है। पुस्तक का प्रत्येक अध्याय जानकारी कोष है किन्तु कहीं भी इसे बोझ नहीं बनने दिया गया है।

प्रसंग के अनुसार पौराणिक गाथा और इतिहास के तथ्यों की विवेचना है। कालचक्र का प्रवर्तन भोगभूमि का वैभव और उसका ह्रास उसके उपरांत कर्मभूमि का उद्भव व विकास श्रुतज्ञान की परम्परा आचार्य भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त के ऐतिहासिक तथ्यों से लेकर सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य तथा भगवान् बाहुबली की मूर्ति के प्रतिष्ठापक प्रतापी चामुण्डराय के इतिवृत्त तक जो कुछ जानने योग्य है सब सार रूप में इस पुस्तक में आ गया है।

विन्ध्यगिरि के शिखर पर प्रतिष्ठित विशाल खड्गासन मूर्ति का पुस्तक में जो अलौकिक रूप अंकित किया गया है उसके अनुरूप भाव और भाषा एक कवि हृदय ही पा सकता है। इतिहास के तथ्यों को यथासम्भव सुरक्षित रखते हुए जहाँ भी कथानक के चित्रण ने भावनाओं को प्रेरित किया है वहाँ नीरज जी की कल्पना मुखर हो गयी है। तथ्यों का सपाट कथन इतिहास कर सकता है जहाँ आकृति का ढाँचा खड़ा कर देने से काम चल जाता है किन्तु साहित्य की रचना तब सम्पूर्ण होती है जब ढाँचे में प्राणों का स्पन्दन होने लगे। ऐसा स्पन्दन लेखक ने स्वयं तो अनुभव किया ही है पाठकों तक भी उसे पहुँचाया है। भगवान् बाहुबली की मूर्ति के दर्शनों के लिए पोदनपुर की जिस यात्रा की व्यवस्था चामुण्डराय ने अपनी माता की अभिलाषा पूर्ति के लिए की थी उस यात्रा का विवरण कहीं भी पोथियों में नहीं मिलता। यात्रियों में माता काललदेवी उनके गुरु आचार्य नेमिचन्द्र पुत्र चामुण्डराय और चामुण्डराय की पत्नी अजितादेवी की नामावलि सहजता से सोची जा सकती है। किन्तु संघ की यात्रा को सजीव और सम्पूर्ण बनाने के लिए नीरज जी ने चामुण्डराय के पुत्र जिनदेवन पुत्रवधू सरस्वती और पौत्र सौरभ को रूपायित किया है। एक भरा पूरा राज परिवार श्रावकोचित मर्यादाओं के सारे आयामों को धर्म गुरुओं के निर्देशन में सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की महिमा से मण्डित करता है नीरजजी की यह कल्पना दृष्टि कथा को नया आयाम देती है। साहित्यिक लेखन प्रवाह भी हो 'गोमटेश गाथा' इसका उदाहरण है।

अन्त के कई अध्यायों में कथा का विस्तार जितना आवश्यक था इसमें मतभेद हो सकता है किन्तु लेखक का यह आग्रह स्पष्ट दिखाई देता है कि जिस विशाल परिवेश में गोमटेश स्वामी की मूर्ति का निर्माण हो रहा है जहाँ जिनदेवन और सरस्वती अपने अपने दायित्वों के निर्वाह में तन मन से लगे हुए हैं उस परिवेश को जीवन्तता दी जाये। इसके लिए शिल्पी के (जिसे नीरजजी ने अरिष्टनेमि

न पढ़कर केवल रूपकार की सत्ता दी है) मनोभावों को और उसकी दुविधा को चित्रित करना आवश्यक है। रूपकार ने सरस्वती को अपनी दोनों माता है। इस नाते से सौरभ रूपकार को—मामा के रूप में देखता है। इन मानवीय सम्बन्धों का सृजन एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति में जुटे हुए व्यक्तियों के पारस्परिक स्नेह और उनकी कोमल भावनाओं से जुड़ा हुआ है।

कथानक उठा लेने के बाद उसका यथोचित निर्वाह करना साहित्यकार और उपन्यासकार की अनिवार्यता हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन अध्यायों के द्वारा उस सारे कथानक का उद्देश्य उद्घाटित होता है जो भरत—बाहुबली के द्वन्द्व से प्रारम्भ हुआ और रूपकार के लोभी मन तथा चामुण्डराय के तथाकथित अहंकार तक पहुंचा। अपने अपने विकारों से मुक्त होकर शान्ति और आध्यात्मिक उत्कर्ष तक कैसे पहुंचा जा सकता है—इस मर्म तक पहुँचना और पाठक के लिए वहाँ पहुंचने का मार्ग निर्देश करना—गोमटेश्वर गाथा का उसके मानी और सहृदय लेखक का उद्देश्य रहा है। नीरज जी को इस सफलता पर मेरी बधाई।

गाथा पढ़कर मुझे निश्चय हो गया कि नीरज जी ऐसे साहित्य स्रष्टा हैं जिन्हें नयी भाषा शैली पर सतुलित अधिकार प्राप्त है। सच पूछिये तो गोमटेश गाथा पर मैं बरबस ही विस्मित और मुग्ध हुआ हूँ। मेरा विश्वास है लेखक के इस श्रम का गुल्लिका-अज्जी की साधना और श्रम की तरह सम्मान होगा और इसे व्यापक रूप से पढ़ा जायेगा।

मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि इस गाथा का एक मंचे जा सकने वाले नाटक के रूप में तैयार किया जाए जिसमें लेखक के मार्मिक संवादों और सांस्कृतिक आयामों को मानवीय संवेदनाओं के सम्यक पटल पर कुशलता के साथ प्रस्तुत किया जाए।

यह सुखद संयोग है कि श्री नीरज जी ने भगवान् बाहुबली प्रतिष्ठापना सहस्राब्दी महोत्सव के अवसर पर इस गोमटेश गाथा का सृजन किया है। इस कृति के द्वारा समाज को कितनी ही जानकारी समुपलब्ध हो सकेगी।

दिनांक २ ११ ८
शिवरत्न
बम्बई

—श्रेयांसप्रसाद जैन

प्रस्तावना

कर्नाटक प्रदेश में श्रवणबेलगोल दिगम्बर जैनों का प्राचीन तीर्थ है। गोमटेश्वर भगवान् बाहुबली की एक ही पाषाण में निर्मित सत्रह मीटर ऊँची अनोखी प्रतिमा के कारण यह स्थान विश्व में प्रसिद्ध हो गया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की प्रेरणा से गंगराज्य के मन्त्री और महासेनापति चामुण्डराय के द्वारा निर्मापित इस प्रतिमा का स्थापना महाभिषेक ईस्वी सन् 981 में हुआ था। 1981 के फरवरी माह में इस प्रतिमा के सहस्राब्दी महोत्सव एवं महामस्तकाभिषेक का विशाल आयोजन हो रहा है। लाखों श्रद्धालुजन अपनी अपनी भक्ति के अनुसार उसकी भक्ति का संकल्प कर रहे हैं। इस मंगल अवसर पर गोमटेश्वर स्वामी के प्रसाद की ही तरह गोमटेश गाथा के रूप में अपनी श्रद्धा का यह पुष्प अपने पाठकों को समर्पित कर पाने के लिये मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ।

श्रवणबेलगोल का इतिहास बहुत प्राचीन है। महावीर और बुद्ध के तीन सौ वर्ष बाद से अब तक हमारे इतिहास के जीवित अवशेष हमें उपलब्ध हैं। चन्द्रगिरि पर्वत पर पत्थर शिला एवं अद्यावधि-अविच्छिन्न घटनाक्रम हमें यहीं प्राप्त होता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु आचार्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य की जीवनी के विषय में पुराण और इतिहास लगभग एक ही स्वर में बोलते हैं। आचार्य भद्रबाहु के साथ मुनियों का संघ दक्षिणापथ की ओर गया और दिगम्बर मुनि के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य ने सल्लेखना के द्वारा चन्द्रगिरि पर देह त्याग किया। आज के अधिकांश इतिहास पण्डित इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। जिन्हें इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है उनके पास पचास वर्ष की आयु में चन्द्रगुप्त मौर्य के द्वारा अनायास सिंहासन त्यागने और अपने यशस्वी जीवन का असमय अन्त कर लेने के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक या तर्कसम्मत विकल्प नहीं है।

आचार्य भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त के इतिहास से जुड़ा हुआ श्रवणबेलगोल

गोल या चन्द्रगिरि पर्वत निश्चित ही उससे पहले भी तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध रहा होगा। किसी अनजानी और अप्रसिद्ध भूमि पर इतने बड़े संघ का शरण लेना और इतने महान् आचार्य के द्वारा उसे सल्लेखना के लिए चुना जाना स्वाभाविक नहीं लगता। मुनिजन शान्त निराकुल तपोभूमि पर ही सल्लेखना धारण करते थे। चन्द्रगुप्त की तपस्या के बाद तो चन्द्रगिरि की मान्यता बढ़ती ही रही। दसवीं शताब्दी तक आते-आते यह तीर्थ बहुत ख्यात हो चुका था। एक अतिशय प्राचीन तीर्थ और तपोवन के रूप में आसेतु हिमालय इसकी प्रसिद्धि हो चुकी थी।

चामुण्डराय गंग राजवंश के प्रतापी सेनापति थे। गोमट उन्हीं का प्यार का नाम था। बाहुबली के दर्शन के लिए उनकी माता कालल देवी का प्रण एक दिन चामुण्डराय को चन्द्रगिरि तक खींच लाया। संयोग से यहीं उन्हें बाहुबली की प्रतिमा के निर्माण की प्रेरणा प्राप्त हुई। यहीं उसे साकार करने की अनुकूलता दृष्टिगोचर हुई। फिर उनके अटल संकल्प ने यह लोकोत्तर निर्माण यहाँ उनके हाथ से करा दिया। चामुण्डराय इस प्रतिमा के निर्माण के पूर्व ही राजनीति में, वीरता में धर्म के अध्ययन मनन में और साहित्य रचना में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। गोम टेश प्रतिमा की प्रतिष्ठापना के तीन वर्ष पूर्व ही उनके दोनों ग्रन्थों 'चामुण्डराय पुराण' और 'चारित्रसार' की रचना सम्पन्न हो चुकी थी। धार्मिक प्रवृत्ति के लिए और वीरता के लिए अनेक उपाधियों से उन्हें भूषित किया जा चुका था।

दक्षिण भारत के इतिहास में आठवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वी तक पाँच सौ वर्ष का काल जैन धर्म और जैन संस्कृति का 'स्वर्णिम काल' कहा जाने योग्य है। इस कालावधि में अनेक प्रभावक आचार्य और मुनि हुए। एक से बढ़कर एक दानशील गृहस्थ तथा कल्पना के धनी लेखक और कवि इसी काल में इस भूमि पर हुए। अनेक निर्माताओं ने सैकड़ों मन्दिर और हजारों लाखों प्रतिमाओं का निर्माण इसी अवधि में कराया। विशेषकर कर्नाटक के कला-जगत् ने और कन्नड़ साहित्य ने महत्त्वपूर्ण और चिरस्थायी समृद्धि प्राप्त की। इस अवधि में वहाँ के बहुतेरे राजवंश पल्लव पाण्ड्य पश्चिमी चालुक्य गंग राष्ट्रकूट कल चुरी और होयसल प्रायः सभी धार्मिक सहिष्णुता से युक्त रहे। इन शासकों के द्वारा या इनकी छत्रछाया में अनेक भक्तों के द्वारा जैन संस्कृति के निर्माण संरक्षण और प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान मिलता रहा। उस गौरवपूर्ण काल की स्मृति दिलानेवाले इतिहास और कला के प्रमाण आज भी कर्नाटक के गाँव-गाँव में बिखरे हुए हैं।

जैन धर्म के इस उत्कर्ष काल में गंगवंश का शासनकाल वास्तविक स्वर्ण काल था। गोमटेश्वर बाहुबली की यह अद्भुत प्रतिमा इसी काल की देन है। एक ही पाषाण में निराधार गढ़ी गयी संसार की यह सबसे ऊंची और अद्वितीय पाषाण प्रतिमा है। मनोज्ञता और प्रभावकता में भी इसका कोई जोड़ नहीं है। इतने

बड़ आकार की जितनी भी अन्य प्रतिमाएँ जहाँ भी हैं वे या तो अनेक पाषाण खण्डों को जोड़कर बनाई गयी हैं या फिर किसी बड़ी चट्टान में एक ओर ही उकेरी गयी हैं। इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रवणबेलगोल से बड़ा अतिशयवान तीर्थ, गोमटेश्वर से बड़ी मनोहर मूर्ति, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती से अधिक प्रभावशाली गुरु, चामुण्डराय से बड़ा भक्त श्रावक और गोमटेश के अनाम मूर्तिकार से बड़ा भाग्यवान शिल्पी कर्नाटक के सहस्र वर्षों के इतिहास में दूसरा कोई नहीं हुआ। आगे कोई होगा इसकी तो आशा करना ही व्यर्थ है क्योंकि—

अब तराशा ही नहीं जाता कोई पैकर[1] नया।
आज भी पत्थर बहुत हैं आज भी आजर[2] बहुत ॥

श्रवणबेलगोल की इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर गोमटेश्वर बाहुबली की मूर्ति को प्रमुख आधार बनाकर इस उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है। बाहुबली का जीवन परिचय, केवल प्रसंगवश मूर्तिकार को उनके व्यक्तित्व से परिचित कराने के लिए पुराणकार चामुण्डराय के मुख से मैंने कहलाया है। इस प्रकार आख्यान की कथावस्तु प्रस्तुत करने में पुराण और इतिहास दोनों ही स्रोत सहायक हुए हैं परन्तु इतिहास इसमें प्रमुख है पुराण मात्र प्रासंगिक है।

श्रवणबेलगोल के लगभग छह सौ शिलालेखों में बिखरी हुई आठ सौ वर्षों के इतिहास की सामग्री को संकलित/सम्पादित करके प्रकाश में लाने का कार्य मैसूर राज्य के पुरातत्त्व विभाग ने किया था। विभाग के निर्देशक श्री बी० लुइस राईस ने इसका प्रारम्भ किया और प्राक्तन विमर्श-विचक्षण राव बहादुर आर० नरसिंहाचारी ने वर्षों के परिश्रम से इसे पूरा किया। कन्नड़ लिपि में टंकोत्कीर्ण और अंग्रेजी में प्रकाशित हमारे अतीत की उस अनमोल धरोहर को नागरी अक्षरों में प्रस्तुत करके हिन्दी पाठकों को उपलब्ध कराने का श्रेय डा० हीरालाल जैन को है। डा० जैन के प्रयत्नों में प्रेरणा से लेकर प्रकाशन तक सर्वत्र श्री नाथूराम प्रेमी का योगदान सादर स्मरणीय है। लाला राजकृष्णजी ने श्रवणबेलगोल पर एक परिचय पुस्तिका वीरसेवा मन्दिर दिल्ली से प्रकाशित करायी थी।

पुराणों के ऋषभदेव, भरत और बाहुबली को आख्यान के मंच पर उपस्थित करते हुए उसी परिप्रेक्ष्य में गोमटेश्वर मूर्ति की रचना का विवरण प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने 'अन्तर्द्वन्द्वों के पार गोमटेश्वर बाहुबली' में किया है। शिलालेखों के साहित्य की सरस कोमल भावनाओं को रूपायित करने का इतिहास के नीरस तथ्यों को रोचक और ग्राह्य बनाने का यह प्रथम

---

1 पैकर=आकृति 2 आजर=उपकरण।

प्रयास था। उनकी यह पुस्तक भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई है।

उपरोक्त सभी प्रयत्न श्रमसाध्य रहे हैं। वे अपने आप में परिपूर्ण भी हैं परन्तु श्रवणबेलगोल का अतीत बहुत समृद्ध, बड़ा घटनापूर्ण और बड़ी विविधताओं से भरा है। उसकी वह सारी समृद्धि उन सब घटनाओं में गुंफक सूत्र और उन सारी विविधताओं ने सर्वत्र सर्वत्र श्रवणबेलगोल में तथा उसके आसपास के शिल्प में, शिलालेखों में, साहित्य में और जनश्रुतियों में बिखरे पड़े हैं। इनका विधिवत अध्ययन प्रकाशन अभी हुआ नहीं है। इनमें से अधिकांश आज तक अछूत हैं और धीरे धीरे नष्ट हो रहे हैं। इतिहास की इन मणियों को समय रहते बटोरकर सारतम्य के सूत्र में गूंथकर एक माला बनाने की आवश्यकता है। निश्चय ही वह माला गोमटेश्वर के चरणों की शोभा में वृद्धि करेगी। यह कार्य कठिन तो है पर बड़े महत्व का है बहुत आवश्यक है। सहस्राब्दी महोत्सव के इस ऐतिहासिक अवसर पर इस महान् अनुष्ठान का संकल्प लेकर गोमटेश्वर के भक्त इसका प्रारम्भ करेंगे ऐसा मुझे विश्वास है। जब तक ऐसा कोई अधिकृत और सांगोपांग लेखन सामने नहीं आता तब तक पाठकों को उस अतीत की समृद्ध झांकी का दर्शन कराने की भावना से प्रेरित होकर मैं यह छोटा सा प्रयास कर रहा हूँ। गोमटेश के चरणों की महत्ता ही मेरे इस प्रयत्न को सार्थक करेगी।

गोमटेश्वर प्रतिमा के निर्माण में प्रेरणा स्रोत की तरह सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य को जैसा मैंने अपनी कल्पना में देखा है इस सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव की सारी संयोजना के पीछे उसी प्रकार एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी साक्षात् बैठे हुए हैं। मुनिजी ने बड़े प्राणवान प्रसंगों की प्रेरणा जन समाज को दी है। भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण महोत्सव वर्ष में स्व० साहू शान्तिप्रसादजी और श्रीमती रमारानी जैन की लगन और परिश्रम ने उनकी कल्पना को साकार किया था। आज इस सहस्राब्दी महोत्सव में स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी और श्रीमान् श्रेयांसप्रसादजी जैन के सहयोग से अनेक ऐतिहासिक कार्य श्रवणबेलगोल में हो रहे हैं। महोत्सव के प्रसंग से गोमटेश की विश्वव्यापिनी ख्याति हो रही है। अब मुनिजी 1985 में आचार्य आचार्य कुन्दकुन्द की—सहस्राब्दी महोत्सव की यात्रा को लेकर ज्ञान रथ के देशव्यापी संचरण की कल्पना को आकार देने में लग गये हैं। एलाचार्य मुनिजी और भट्टारक स्वामीजी ने इस उपन्यास के अनेक प्रसंगों को सुना है सराहा है। इससे मेरा उत्साहवर्धन हुआ है।

इस कलिकाल में भी दुर्द्धर तपश्चरण के आराधक आचार्य विद्यासागरजी महाराज ने अनुकम्पापूर्वक इस उपन्यास के अनेक प्रसंगों को देखकर, या श्रवण करके अनेक उपयोगी परामर्श देने की कृपा की है। आर्यिका विशुद्धमती माताजी ने बड़े परिश्रमपूर्वक उपन्यास के सैद्धान्तिक तथ्यों का संशोधन किया है। उनके

अनेक निर्देश मेरे लिए अत्यन्त उपयोगी हुए हैं। इस पुस्तक के सम्बन्ध में अंत ध्वनि लिखकर तो माताजी ने मेरे प्रति अपने वात्सल्य को ही लिपिबद्ध कर दिया है। मेरे गुरु श्रीमान् पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री से मुझे पग-पग पर जो प्रेरणा, परामर्श और प्रोत्साहन मिला, वह मेरा सहज प्राप्तव्य है। ये सभी गुरुजन मेरे लिए प्रणम्य हैं। उन सभी के आशीष का पात्र बन सका इसके लिए मैं अपने भाग्य की सराहना करता हूं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और चामुण्डराय आदि ऐतिहासिक पात्रों के चित्रण में डा० ज्योति प्रसाद जैन की सामग्री का मैंने उपयोग किया है। गोम्मटसार में उनके सम्पादकीय में और पण्डित कैलाशचन्द्रजी प्रस्तावना में तथा आर्यिका विशुद्धमती माताजी की त्रिलोकसार की टीका में पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य की प्रस्तावना में भी इन पात्रों के विषय में उपयोगी सूचनाएं प्राप्त हुई हैं। दृष्टियुद्ध के अंकन की कल्पना श्री मिश्रीलाल जैन के काव्य गोमटेश्वर की पंक्तियों से प्रस्फुटित हुई है। अजितसेन आचार्य और महासती अत्तिमब्बे का जीवन परिचय श्री जी० ब्रह्मप्प के उपन्यास 'दान चिंतामणि' से लिया गया है। श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय की पाषाण-कथा ने मेरे चन्द्रगिरि को वाणी की प्रेरणा दी है। उक्त सभी महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए मैं स्वीकारना चाहता हूँ कि इस उपन्यास में मेरा अपना विशेष कुछ नहीं है। उपवन से कुछ फूल पत्तियाँ एकत्र करके गुलदस्ते के निर्माण में माली की जो भूमिका होती है पुराण और इतिहास से कुछ रोचक प्रसंग लेकर यहाँ गूंथ देने का वैसा ही प्रयत्न मैंने किया है। अयोध्या के वृद्ध महामन्त्री, बाहुबली की वल्लभा जयमंजरी, चामुण्डराय के परिकर में सरस्वती और सौरभ, पण्डिताचार्य और अम्मा जैसे पात्रों को अवश्य मेरी कल्पना ने गढ़ा है। उनकी प्रासंगिकता को मैंने सिद्ध भी करना चाहा है।

पौराणिक प्रसंगों का उल्लंघन न हो, इतिहास की रेखाओं का अतिक्रमण न हो ऐसी सावधानी बरतते हुए जहाँ भी संधि मिली वहाँ कल्पना की तूलिका से उन रेखाओं में रंग भरने की चेष्टा मैंने की है। पात्रों की सहज मानवीय संवेदनाओं को मुखरता प्रदान करने का जहाँ अवसर मिला वहाँ मेरी लेखनी स्वच्छन्दतापूर्वक चली है। इतिहास के ढाँचे पर उपन्यास के आभरण अलंकार सजाने के लिए यह आवश्यक भी था। उर्दू शब्दों से बचने की सावधानी में कुछ दुरूह शब्दों के प्रयोग की मेरी बाध्यता रही है पर सामान्य हिन्दी पाठक के लिए यह भाषा दुगम नहीं है ऐसा मेरा विश्वास है। जो जगह मुझे ऐसा लगा कि भावों की कोमलता को व्यक्त करने के लिए वैसी कोमल शब्द-योजना मैं नहीं कर पा रहा हूँ वहाँ मुझे काव्य का सहारा लेना पड़ा है। बाहुबली के वन-गमन के समय जयमंजरी की भावनाओं का चित्रण और गुल्लिका-अज्जी के अंतर्धान हो जाने का दृश्य कविता

म अंकित करने का यही कारण है। गोमटेश-स्तुति के अनुवाद के बहाने मेरी कविता को एक और अवसर मिला है।

भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक भाई लक्ष्मीचन्द्रजी की प्रेरणा से ही इस लेखन का बीजारोपण एक दिन हुआ था, सहस्राब्दी समारोह पर प्रकाश्य हिन्दी स्मारिका के लिए एक पुरातत्व की अलिखित डायरी शीर्षक से उन्होंने मुझे एक लेख लिखने का जो सुझाव दिया, उसी का परिवर्धित और सुसस्कृत रूप यह उपन्यास है। श्रवणबेलगोल पर अतद्वन्द्वों के पार गोमटेश्वर बाहुबली उनकी एक समृद्ध रचना है। उस पुस्तक का अवलोकन कई जगह मेरे लेखन म सहायक हुआ है। इस सबके लिए उनका आभार मानना मेरा कतव्य है।

श्रीयुत साहू श्रेयासप्रसाद जी का प्रोत्साहन न मिलता तो मेरा छोटा सा लेख ऐतिहासिक उपन्यास का यह रूप ले पाता इसम मुझे सन्देह है। बाबूजी के शेरो शायरी के उत्कृष्ट खजाने की चर्चा छोड़ दें तो भी साहित्य और इतिहास के विज्ञ और जागरूक पाठक का उनका यह रूप भी, थोड़े ही लोग जानते हैं। बड़ी पैनी दृष्टि से उन्होंने मेरे लेखन को देखा है। बड़ी तन्मयता से सुना है। उदारता से सराहा है। समय समय पर उनके उत्साहवधक टिप्पण उपयोगी सुझाव और आलस्य हटाने वाले मीठे उलाहनों से ही यह पुस्तक सहस्राब्दी समारोह पर आपके हाथों म आ सकी है। पुस्तक के नामकरण का और उसके लिए आमुख लिख देने का मेरा आग्रह उन्होंने स्वीकार किया भारतीय ज्ञानपीठ से उसके प्रकाशन की व्यवस्था की यह सब मेरे प्रति बाबूजी के सहज स्नेह और गोमटेश के प्रति उनकी अपार भक्ति का प्रतीक है। दो वर्ष पूर्व से ही व इस महोत्सव की सयोजना में प्राण-पण से लगे हुए हैं। इस उपन्यास पर आधारित नाटक को मंच पर देखने की उनकी आकांक्षा जिस दिन पूर्ण होगी उस दिन मुझे भी बहुत प्रसन्नता होगी। बाबूजी को धन्यवाद देने की औपचारिकता मैं नहीं दिखा पाऊँगा।

प्रारम्भिक लेखन से लेकर प्रेस कापी की तैयारी तक मेरे गुरुभाई अमरचन्द्रजी ने और मेरे मित्र डा० कन्हैयालाल अग्रवाल ने बड़ा परिश्रम किया है। भारतीय ज्ञानपीठ के डा० गुलाबचन्द्र जैन ने प्रकाशन को सुरुचिपूर्ण बनाने में तथा पाण्डुलिपि के संशोधन आदि म बहुमूल्य सहयोग दिया है। गृहस्थी की चिंताओं से महीनों तक मुझे मुक्त रखकर मेरी धर्मपत्नी इस साधना म बहुत सहायक हुई हैं। उन सबके सहयोग का सादर स्मरण करता हूँ।

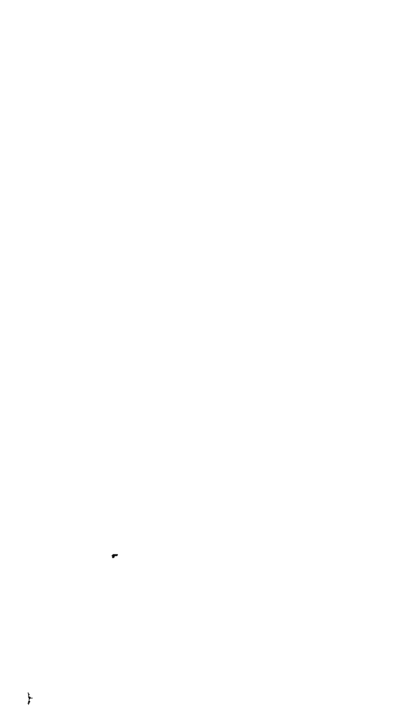
माँ शारदा की आरती म यह छोटा-सा दिया लेकर उपस्थित हूँ। यह बाल प्रयास सराहा जायगा या नहीं इसकी चिन्ता मैं क्या करूँ? अपने पाठकों की प्रतिक्रिया की अवश्य मुझे प्रतीक्षा रहेगी। वही प्रतिक्रिया मेरी लेखनी को मार्गदर्शन देगी मेरे चिन्तन को दिशा प्रदान करेगी।

जय गोमटेश!

शान्ति सदन सतना
३१ १०-१९८० —नीरज जैन

मातेश्वरी को

नीरज



गोमटेश गाथा

'जैन धर्म की प्रभावना, जैन साहित्य का प्रसार, और जैन संरक्षण यही आज के युग का सर्वोत्कृष्ट धर्म है। यही गृहस्थों का रत्नत्रय है।'

—कहते थे आचार्य अजितसेन

'असीम आकांक्षाओं के वशीभूत महत्वाकांक्षाओं की महाज्वाला में झुलसते हुए साम्राज्य का प्रासाद खड़ा किया, परन्तु यह मन को सुख का तनिक भी संवेदन नहीं दे पा रहा। सन्तोष का परिग्रह के साथ, निराकुलता का वैभव के साथ क्या दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं ?

—विचारते थे सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य

'यह श्रवणबेलगोल तो शाश्वत और पवित्र तीर्थ है। बाहुबली की यह प्रतिमा कला-जगत की अनोखी निधि है। हमने और आपने मिलकर जैसे आज यह महोत्सव यहाँ देखा है, उसी प्रकार हमारे और आपके वंशज ऐसे अनेक महोत्सव यहाँ देखें। दीर्घकाल तक इन भगवान् की पूजा आरती-अभिषेक वे करते रहें, हम यही कामना करते हैं।'

—प्रतिष्ठापना महोत्सव में कहा चामुण्डराय ने

'जिस चित्त ने दीर्घकाल तक बाहुबली के क्षमानिधान रूप का चिन्तवन किया है उस चित्त में सांसारिक जय-पराजय का चिंतवन अब शोभा नहीं देगा।

जिन हाथों ने गोमटेश्वर भगवान के महाभिषेक के कलश उठाये हैं, उन हाथों में किसी के तन मन को संक्लेशित करनेवाले उपकरण उठाने का अब कोई औचित्य नहीं है। शास्त्र के पन्नों से ही अब उनकी शोभा है।

—चामुण्डराय से कहा था अजितसेनाचार्य ने

'चरणों के अभिषेक का भी बड़ा पुण्य होता है, अज्जी। अभिषेक तो भगवान् के चरणों का ही होता है, मस्तकाभिषेक तो उसकी भूमिका है।'

—कहा सरस्वती ने

'बाहुबली तो इस शिला में पहले से ही विराजमान थे। अपने अभ्यास और अनुभव से मैं उनका दर्शन भी करता था। ऊपर-ऊपर का कुछ अनावश्यक पाषाण काटकर झरा दिया सो आपको भी उनका दर्शन होने लगा। अनावश्यक के विमोचन में क्या परिश्रम और उसका कैसा पारिश्रमिक ?'

—निवेदन किया रूपकार ने

'जीवन का ऐसा सुन्दर समापन और मरण का ऐसा उज्ज्वल आवाहन मैंने प्रथम बार देखा।'

—यह थी आचार्य भद्रबाहु की सल्लेखना

'गोमटेश्वर की महिमा अपरम्पार है। इन्द्रधनुष उनका भामण्डल बन जाता है। मेघमालाएँ उनका अभिषेक करती हैं। उनचासों पवन उनके चरणों में अर्घ्य चढ़ाते हैं। दामिनी उनकी आरती उतारती है। प्रतिक्षण नूतन उनके रूप अनन्त हैं। कौन उन्हें समझ पायेगा ? कौन उनके दर्शन से अघायेगा ?

—कहा चन्द्रगिरि पर्वत ने

'कुम्भकार के चाक पर चढ़ी हुई माटी के समान दीर्घकाल से घूमता रहा। नाना रूप धरता रहा। चाह की दाह में बार-बार झुलसता रहा। विषयों के वारिधि में बार-बार डूबता रहा। यम के निठुर आघातों से बार-बार खण्डित होता रहा पर इस भव भ्रमण का ओर-छोर नहीं मिला। अब मेरा उद्धार कीजिए नाथ।

—पुकारा पण्डिताचार्य ने

अनुक्रम

9 चन्द्रगिरि की आत्मकथा

गोमटेश के दर्शन से तृप्ति नहीं हुई ?

अभी तुमने उन महाप्रभु का दर्शन किया ही कहा है प्रवासी !

जो प्रतिक्षण रूप बदलते हों, क्षण-क्षण जिनमें नवीनता का सचार होता हो, बस उनके दर्शन मे किसी को तृप्ति मिल सकती है ?

फिर तुम्हें यहा आये अभी समय ही कितना हुआ है ?

मेरी ओर देखो सहस्र वर्षों से निहार रहा हूँ उस भुवनमोहिनी छवि को पर लगता है दर्शन की पिपासा और और बढती ही जाती है। लोकोत्तर छवि का आकर्षण सदा ऐसा ही अनन्त तो रहा है। काल की सीमाएँ उसकी दर्शनाभिलाषा को क्या कभी तृप्त कर पायी है ? दृष्टि पड़ते ही भक्ति विह्वल हृदय स्वय चितेरा बनकर, स्मृतिपटल पर उस छवि का, अमिट रगो मे अकित कर लेता है।

सामने के पर्वत पर गोमटेश बाहुबली का यह रूप, ऐसा ही लोकोत्तर रूप है। ससार मे बैर और प्रीति के जटिल बधनो से मुक्त होकर भी वे यहाँ कोमल लता वल्लरी से बँधे खडे हैं। उत्तर मे जन्म लेकर भी वे यहा दक्षिण मे अवस्थित है फिर भी उत्तर, निरन्तर उनकी दृष्टि मे है।

यहाँ उनके चरणो मे आते ही मनुष्य केवल मनुष्य रह जाता है। उनके साथ लगे हुए सारे मानवकृत भेद यहाँ स्वत समाप्त हो जाते हैं। गोमटेश के दर्शन के लिए जाति-पाति का, ऊँच नीच का, छोटे-बडे का कोई बधन यहा कभी नहीं रहा। वे सबके भगवान् हैं। सब उनके भक्त हैं। यहा वे जन-मानस के सच्चे लोकदेवता हैं। किसी एक भूभाग से बँधे नहीं हैं, इसलिए वे जगत के नाथ हैं। किसी एक के नहीं हैं, इसलिए इस विश्व मे वे सबके हैं।

कामदेव होकर भी निष्काम वीतराग साधन से वे स्वतः पूर्णकाम हुए हैं। पुराण पुरुष होकर भी इस विग्रह में वे चिर नवीन हैं। वज्र की तरह कठोर होकर भी वे पाँखुरी की तरह मृदुल हैं। अपराजेय शक्ति के स्वामी होकर भी अनन्त करुणा के धाम हैं। नित-नूतन आकर्षण से भरा उनका दिव्य सौन्दर्य, दर्शक की दृष्टि को बाँध ही लेता है।

महायोगी की अखण्ड एकाग्रता से मण्डित होकर भी, वे निरन्तर बाल-सुलभ मुस्कान बिखेरते रहते हैं। अनन्त मौन में लीन उनकी यह जीवन्त प्रतिमा प्रतिक्षण आश्वासन देती रहती है कि—बस, अब वे बोलने ही वाले हैं।

जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष, सभी यहाँ इन महिमामय की दिव्य महिमा में सदा अभिभूत रहते हैं। इन्द्रधनुष उनका भामण्डल बन जाता है। मेघ मालाएँ उनका मस्तकाभिषेक करती हैं। उनचासों पवन उनके चरणों में अर्घ्य चढ़ाते हैं। दामिनी उनकी आरती उतारती है। नक्षत्र निरन्तर परिक्रमा के द्वारा उन्हें प्रकाशित करते हैं। स्वर्ग-पटलों पर बैठे बैठे ही देवगण नित्य उनका दर्शन करते हैं।

धूलि और धुएँ के बवण्डर कभी उन निरञ्जन की देह को मलिनता नहीं दे पाते। पश्चिम की समुद्री वायु उन निर्लेप को अपने स्पर्श से प्रभावित नहीं कर पाती। नभचर उन्हें मलिन नहीं करते। थलचर कभी उनका अविनय नहीं करते।

मैं साक्षी हूँ उन त्रिलोकीनाथ की ऐसी लोकोत्तर मर्यादा का सहज निर्वाह यहाँ सहस्र वर्षों से हो रहा है। मुझे विश्वास है कि सहस्रों वर्षों तक उनकी यह मर्यादा अटूट ही रहेगी। तब तुम्हीं कहो पथिक! ऐसी अलौकिक छवि के दर्शन से कैसे किसी की आँखें अघायेंगी? जनम-जनम तक यह मनमोहन रूप निहारकर भी, निहारते रहने की आकांक्षा तो बढ़ने ही वाली है। उस तृषा की तृप्ति कभी सम्भव नहीं है।

अपने बाल्यकाल से सुनता आया हूँ—भगवान के जन्म के समय उनके रूप का आकर्षण देवेन्द्र को विह्वल कर देता है। वे सहस्र नेत्र होकर उस रूप-सुधा का पान करते हैं पर अतृप्त ही रहते हैं। तीर्थंकरों का वह रूप देख पाना मेरे भाग्य में नहीं था। पर मेरा भाग्य इन्द्र के भाग्य से कम भी नहीं है तभी तो गोमटेश की यह मनोहारी छवि यहाँ मेरे नयनपथ पर अवतरित हुई। दर्शन पाकर मैं तो धन्य हो गया।

मैं इन्द्र होता, वैसी विक्रिया मेरे पास होती, तो मैं भी सहस्रों नेत्रों से इस दिव्य रूप को निहारकर तृप्त होने का प्रयास करता। पर इससे क्या, दर्शन की अभिलाषा तो मेरी भी वैसी ही अदम्य है। इन्द्र ने सहस्र

चर्म चक्षुओं से जो पाने का प्रयत्न किया, उसे मैं अपने अनन्त अन्तर्चक्षुओं के द्वारा, सहस्र वर्षों से पा रहा हूँ सहस्रों वर्षों तक पाऊँगा, मुझे अपने इस सौभाग्य पर गर्व है।

आज तीसरा दिवस है मित्र ! देख रहा हूँ बड़े मनोयोगपूर्वक प्रात से मध्या तक तुम यहाँ गड़े-अनगढ़े पाषाणखण्डों का अवलोकन करते हो। हर दिशा से कुछ पूछना-जानना चाहते हो, पर प्रश्नों का समाधान तुम्हें मिल नहीं पा रहा।

नहीं बन्धु ! मेरे बोल सुनकर चौंको नहीं। अतीत के दर्शन की तुम्हारी जिज्ञासा जानकर ही मैं आज मुखर हो उठा हूँ। मैं चन्द्रगिरि पर्वत, जड़ हूँ तो क्या ? तुम्हारे अतीत का एकमात्र साक्षी मैं ही तो हूँ। अपने विगत का जितना तुम जानना चाहते हो बताने के लिए उससे बहुत अधिक संचित है मेरे कोष में। अतीत को जानने की तुम्हारे भीतर जितनी जिज्ञासा है उसे उद्घाटित करने की उत्सुकता उससे कम नहीं है मेरे भीतर।

तुम्हारी सभ्यता का क्रमबद्ध इतिहास मेरे अंतस में सुरक्षित है। दीर्घकाल तक वहाँ वह सुरक्षित रहेगा। उस अतीत का लेखा-जोखा काष्ठ फलकों पर, कागज पर अथवा ताडपत्रों पर अंकित होता तो काल का परिणमन अब तक उसे मिटा गया होता। धातुओं पर वह अंकित होता है तो सागर की आर्द्र वायु के क्षार उसे कब का निःशेष कर चुके होते। परन्तु मैं ठहरा कठोर पाषाण। काल की कुदाल के कठोर आघात भी लक्ष-लक्ष वर्षों तक मुझे विदीर्ण नहीं कर पाते। मेरे अंतस् के विशाल फलकों पर जो अंकित है उस अतीत की शोध के लिए तुम्हें अन्यत्र कहीं भी जाना नहीं होगा। उसका विमोचन यहीं सम्भव है अभी सम्भव है।

तुम्हारे पूर्वज स्वयं तुम्हारे लिए अपना वृत्त छोड़ जाने में अत्यन्त उदासीन थे। बहुत कृपण थे। प्रायः उन्होंने अपनी गौरवगाथा के छन्द रचे ही नहीं। अपनी कृतियों का इतिहास कहीं अंकित किया ही नहीं। इधर उधर उनका छोड़ा हुआ, जो कुछ संकेत रूप में उपलब्ध है, उसे बटोर कर सुरक्षित करने की रुचि उसके प्रयत्न, तुम्हारी पीढ़ी में बहुत विरल हैं। आकलन करनेवाली आँख हो तो दृश्यमान इतिहास सर्वत्र बिखरा पड़ा है। कोई पूछनेवाला भर हो, इतिहास के पात्र स्वतः बोलने लगते हैं। इसलिए तो आज तुम्हें पास पाकर मैं अनायास मुखर हो उठा हूँ।

विस्मृति का विष, जब-जब तुम मानवों की चेतना को मूर्च्छाजाल में आवेष्टित कर जाता है तब-तब उस चेतना को निर्विष करने के लिए

उस मूर्च्छाजाल का छिन्न भिन्न कर देने के लिए कही न कही, मेरे जसे किसी न किसी जड का ही मुखर होना पडता है। जड की यही मुखरता तुम्हारा इतिहास है। तुम्हारी दार्शनिक मान्यता भी तो यही है कि आत्मा अरूप है, अगन्ध है, अस्प और अशब्द है। शब्द जड है, वह जड की ही पर्याय है। फिर जो मेरी ही परिणति रूप है, उस मेरी मुखरता म तुम्हारे लिए विस्मय की क्या बात है! शान्त होकर चार क्षण बठो। कुछ अपनी कहो, कुछ मेरी सुनो!

नही अपनी जिज्ञासा को प्रश्न का पहिनावा प्रदान करने का प्रयत्न मत करो। मेरे लिए यह नितान्त अनावश्यक है। तुम्हारी प्रश्नजन्मा दृष्टि न मुझ सब कुछ बता दिया है। मैं तुम्हारी जिज्ञासा की उत्कटता का अनुभव कर रहा हूँ। तुम्हारे सारे अनकहे प्रश्न मुझे बेध रहे हैं। उन्हें अनकहा ही रहने दो।

सोच रहा हू कहाँ से प्रारम्भ करूँ। मेरे स्मृतिकोष मे सुदूर अतीत से आज तक का सारा घटनाचक्र सुरक्षित है। काल के माप अवश्य मेरे और तुम्हारे पृथक् पृथक हैं। जो मेरे लिए अतीत है वह तो तुम्हारे लिए कल्पनातीत है। तुम्हारे लिए जो घटनाएँ बहुत प्राचीन है वे मुझे लगता है—अभी कल ही घटी हैं। इसीलिए प्राय सन सवत् तिथि मास का लेखा जोखा मेरे पास नही है। मुझे ऐसी गणना अनन्त को सीमाबद्ध करने का बाल प्रयास-सा लगता है। तब चलो उसी निकट अतीत की चर्चा कर उसी छोटे से कालखण्ड का सिंहावलोकन करें जिसे तुम 'इतिहास काल' कहते हो।



२ यह मेरी मातृभूमि

हमारा यह देश महान् है पथिक !

आस्तिक्य और अनुकम्पा इस धरती की माटी के रसायन हैं। इसके धरा गगन पर दिखाई देनेवाले सातो रगो का उत्स एक ही है। इसकी सारी विविधताओ के अकुर किसी गहराई मे जाकर एक ही जड से फूटते हैं। हिमगिरि के शिखर और सागर की हिलारे कही न कही इस पावन धरती के एक ही धरातल पर अवस्थित हैं।

उत्तरापथ और दक्षिणापथ इसकी भुजाएँ हैं। पर इस भूमि विग्रह म धडकनेवाला हृदय एक ही है। आर्यावर्त और दक्षिणावर्त कभी प्रतिस्पर्धी नही थे। वे सदा एक-दूसरे के पूरक ही रहे। एक म अनेकता और अनेक म एकता भारत की दार्शनिक व्याख्याओ म भर नही यहाँ की सास्कृतिक परम्पराओ म भी सदा से व्याप्त है। प्रणम्य है यह धरा।

विश्व के प्राणियो को सुख और स्वातन्त्र्य का सदेश देनेवाली श्रमण सस्कृति की शीतल धारा इस पुण्य भूमि पर सतत प्रवहमान रही है। इस धारा को निमल और अटूट बनाये रखने म उत्तर और दक्षिण दोनो का समान योग रहा है।

उत्तरापथ यदि गौरवान्वित है तीर्थकरो की जन्मभूमि होने के कारण तो दक्षिणापथ भी पावन हुआ है उनके विहार से। उसकी गरिमा इसलिए भी है कि तीर्थंकरो की लोककल्याणी वाणी को प्रसारित करने वाले गुरु उनके साधना माग को जीवन पर उतारकर साक्षात् दिखाने वाले आचाय, प्राय दक्षिणापथ म ही जनमे हैं। यही उन्होने अपनी साधना के द्वारा श्रमण सस्कृति की प्रभावना की है। शास्त्रो की रचना और फिर दीघकाल तक उनका सरक्षण भी यही हुआ है।

दक्षिणापथ मे जन सस्कृति के सरक्षण और प्रसार के लिए, प्रारम्भ

से ही इस कर्नाटक देश का बडा नाम रहा है। जैसा यह भूमि भाग अपनी बारहमासी हरियाली और प्राकृतिक शोभा-सुषमा के लिए दूर-दूर तक विख्यात रहा वैसे ही श्रमण साधुओं और जैन तीर्थों के लिए भी सदा इसकी प्रसिद्धि रही है।

राजनतिक प्रवाह की सशक्त लहरों के आघात से, भले ही कर्नाटक की सीमाएँ परिवर्तित होती रही हैं भले ही इस भूमि पर फहराने वाले राष्ट्रध्वज उत्थान और पतन की दोला में झूलते रहे हैं परन्तु कर्नाटक की सांस्कृतिक सम्पदा सदा सुरक्षित ही रही है। उसकी आस्थावान अस्मिता की सहज आभा, कभी मन्द नहीं हुई वह सदा ऐसे ही तेज से झिलमिलाती रही है।

कर्नाटक के मध्य में स्थित इस श्रवणबेलगोल को, इस गोम्मटपुर को, अनेक कारणों से अतिशय ख्याति मिलती रही है। इस ग्राम को, और तुम्हारे इन पर्वतों को समय-समय पर अनेक नामों से जाना जाता था। यहाँ के शिलालेखों मूर्तिलेखों से वे सभी नाम तुम्हें ज्ञात हो चुके हैं। यह चिक्कबेट्ट जिस पर तुम बैठे हो, वह दोड्डबेट्ट जो तुम्हारे सामने दिखाई दे रहा है हम दोनों ही अपनी उपलब्धियों के क्षेत्र में भाग्यशाली रहे हैं। चिक्कबेट्ट कटवप्र, कलबप्पु ऋषिगिरि, चन्द्रगिरि और तीर्थगिरि सब मेरे ही नाम है। दोड्डबेट्ट, विन्ध्यगिरि और इन्द्रगिरि मेरे उस सहोदर के सम्बोधन हैं। हमारे प्रत्येक नाम का पृथक इतिहास है। सभी नाम अपने आप में सार्थक हैं।

आज इन नामों में ही अपनी बात प्रारम्भ करना ठीक होगा—

श्रवणबेलगोल का अर्थ है श्रमणों का धवल सरोवर। 'श्रवण' शब्द संस्कृत के 'श्रमण' का अपभ्रंश है। अर्थ है जैन मुनि। 'बेल और गोल' कन्नड के शब्द हैं जो क्रमश 'धवल' और 'सरोवर' का अर्थ देते हैं। इस ग्राम के लिए 'श्वेत सरोवर' 'धवल सरसतीर्थ' 'धवल सरोवर' और 'बेलगुलु' आदि पर्यायवाची नाम भी मैंने यदा-कदा सुने हैं। यह जो कल्याणी सरोवर तुम्हें सामने दिखाई दे रहा है उसी के कारण इस ग्राम को ये नाम प्राप्त हुए हैं। यह 'कल्याणी सरोवर' भी उस जलाशय का बडा सार्थक नाम है। उसका भी एक आख्यान है।

'देवर बेलगोल' एक और नाम कुछ लोग इस ग्राम के लिए प्रयोग करते थे। अर्थ है—जिनदेव का धवल सरोवर। दक्षिण काशी और जैन बिद्री नामों का प्रयोग करके भी इस स्थान के प्रति भक्तजनों ने अपना सम्मान सूचित किया है।

'गोम्मटपुर' संभवत इसका सबसे नवीन नामकरण है। अभी, सहस्र

वष पूव की ही बात है चामुण्डराय—के कटक मे ही यह नाम निःसृत हुआ। गोमट' चामुण्डराय का ही प्यार का नाम था।

यह तो ग्राम की नाममाला हुई। अब अपनी बात करें। हम दोनों के प्राथमिक नाम हमारे आकार की अपेक्षा ही प्रचलित हुए। मैं चिक्कबेट्ट—छोटा पर्वत और वह दोड्डबेट्ट—बड़ा पर्वत। कटवप्र मेरा सस्कृत सम्बोधन है और कलवप्पु' उसका कन्नड रूप। 'कटवप्र गिरि और कटवप्र शैल सम्बोधन भी मेरे लिए प्रचलित रहे हैं।

दिगम्बर आचार्य भद्रबाहु ने उत्तरापथ के भयकर दुष्काल म मुझे अपना विश्रामस्थल बनाया। इसलिए मरे लिए ऋषियोंवाले उनके सघ के आगमन ने मुझे अनेक नाम दिलाये हैं।

उन महातपस्वियों के सल्लेखना मरण के समय ही साधु-समाधि के लिए मैं विख्यात हो गया। उनके उपरान्त एक सहस्र मुनियों ने तुम्हारे इसी चिक्कबेट्ट पर समाधि-मरण प्राप्त किया। स्वर्गारोहण भूमि के नाम से लोग मुझे जानने लगे। समाधि-साधनास्थली होने से ही मेरा नाम कटवप्र' हुआ। कट या कन शान्त अथवा मरण का द्योतक है। वप्र या गिरि पर्वत के लिए प्रयुक्त है। मेरा यह कटवप्र नाम किस प्रकार कल्वप्र कलवप्र और कनवप्प होता हुआ कन्नड का कलवप्पु हो गया यह तुम्हारे भाषाशास्त्री बतायेंगे।

भद्रबाहु स्वामी ऋषिराज थे। सम्राट चन्द्रगुप्त प्रभाचन्द्र स्वामी बनकर राजर्षि हुए। इन ऋषियों की साधना भूमि होने से ही मैं ऋषिगिरि भी कहलाया।

चन्द्रगिरि नाम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की स्मृति म ही मुझे प्राप्त हुआ। दिगम्बर मुनि होकर वे यहाँ आये और मेरी ही गोद म उन्होंने पार्थिव शरीर का परिहार किया। तभी से मैं चन्द्रगिरि हुआ।

इन तप पूत महात्माओं की चरणरज पाने से और अनेक देवायतनों जिनालयों को अपने मस्तक पर धारण करने से मैं अनायास ही तीर्थ हो गया। इसलिए तीर्थगिरि भी मेरा नाम हुआ। अपनी अथवत्ता के कारण ये सम्बोधन मुझे गौरव प्रदान करते रहे हैं।

मैंने कहा था न बड़ी सार्थकता है हमारे नामों म।

३ देव शास्त्र-गुरु की पावन त्रिवेणी

तुम्हारे इतिहास काल के कुछ पूर्व से ही मैं तुम लोगो के लिए आराधना स्थल या धर्मायतन की गरिमा प्राप्त कर चुका था। तुम्हारे पूर्वज, सहस्रो वर्षों से चित्रकेट्ट की इसी विशाल पीठ पर देव शास्त्र और गुरु की उपासना करते रहे हैं।

मेरे इस परिवेश म अर्हत् सभा का अलौकिक आयोजन आज भी मेरी स्मृति म सजीव है। इतिहास उसका प्रवक्ता नही है, क्योकि इतिहास की परिधि म आनेवाले काल-खण्ड की सीमाएँ सकीर्ण हैं। पर क्या इतने से ही मैं आनन्दानुभूति के उन दुर्लभ क्षणो को विस्मृति के गर्त मे डाल दू ? नही पथिक, यह सम्भव नही। वीतराग देव का वह शुभागमन समवसरण का वह देवोपुनीत सयोजन क्या कभी विस्मरण करने की बात है। उन क्षणो की आत्मविस्मृत कर डालनेवाली देह पुलक स्मृतिमात्र से आज भी मुझे रोमाचित कर जाती है। तब यहाँ सचरित हुआ सुरभित पवन आज तक मुझे सुवासित कर रहा है।

देव

देवायतन की स्थापना की सुधि करता हूँ तो पाता हूँ कि यहाँ सदैव, मेरी पीठ पर वहा न कही, कोई न कोई अर्चना-केन्द्र शाश्वत प्रतिष्ठित रहा ही है। समय-समय पर तुम लोगो ने उन्हे भिन्न भिन्न रूपाकार प्रदान किये एक को विसर्जित कर दूसरे की स्थापना प्रतिष्ठा कर दी परन्तु उनकी पारम्परिक शृखला कभी भग नही होने दी।

प्राय प्रत्येक शताब्दी म तुम्हारे भेजे तक्षक कलाकारो और साधक स्रष्टाओ की छनी का कुशल स्पर्श पाकर मेरे ही पाषाण-खण्ड निर्माताओ की कल्पना को आकार देने का उपादान बनते रहे। आज जिन

बिम्ब, जिनालय मानस्तम्भ, गुफा, चरण चिह्न आदि जितने भी शिल्प प्रतीक तुम यहा देख रहे हो भले ही उनकी स्थापना प्रतिष्ठा-काल उन पर अकित हो परन्तु वष तिथि मास की यह गणना केवल उनके वतमान रूप की ज मपत्री है। वास्तव मे परम्परा द्वारा उनका अस्तित्व मुझे तुम्हारे दीघ अतीत से जोडता है। इधर मेरे ही समक्ष उस इन्द्र गिरि पर गोमटेश बाहुबली की इस नयनाभिराम प्रतिमा का निर्माण जबसे हुआ तबसे तो मेरा सारा अस्तित्व ही गौरवान्वित हो उठा है। फिर तो एक व दनीय देवायतन की जो गरिमा मुझे प्राप्त हुई, वह अनु पम और अद्वितीय ही है।

शास्त्र

शास्त्र की बात बहुत प्राचीन नही है। साधु मण्डली म द्वादशाग का पाठ तो इस वातावरण मे अनेक बार गूजा है। यही बठकर अनेक आचार्यों ने जिनवाणी का पावन प्रसाद अपन शिष्यो को बार बार वितरित किया है पर लिपिबद्ध रूप म शास्त्रो का दशन मुझे अभी थोडी ही शताब्दियो पूव हुआ।

इतिहास न तुम्हे बताया होगा कि शास्त्र लिखने की पद्धति इस देश मे बहुत प्राचीन नही है। तीथकर अहन्तो का दिव्य उपदेश उनके प्रवक्ता गणधरो के द्वारा भाषा रूप मे नियोजित करके प्रवचन और प्रश्नोत्तर के माध्यम से ही दूसरे मुनियो आचार्यों तक पहुँचता था। व आचाय वह समस्त ज्ञान अपने शिष्यो को इसी श्रुत-परम्परा से प्रदान कर जाते थे। एक से दूसरे आचार्यों तक पहुँचाता हुआ तीथकर महावीर का पावन उपदेश उनके उपरान्त छहसौ वर्षों तक इसी प्रकार अलिखित रूप मे ही प्रचारित होता रहा। इन छहसौ वर्षों मे उस द्वादशाग वाणी का ह्रास भी हुआ और आगे उसकी परम्परा विच्छिन्न होने की आशका भी होने लगी।

जन सस्कृति के उस शेष बचे पवित्र वचनामत को तुम्हारी पीढियो के लिए सुरक्षित करने के विचार से आज से लगभग उन्नीससौ वष पूव आचाय धरसेन महाराज ने वह आगम ज्ञान लिपिबद्ध कराने का सकल्प किया। अपने योग्य शिष्यो—पुष्पदन्त और भूतबलि को—उन्होने वह ज्ञान प्रदान किया और प्रेरणा देकर उन्ही से उसे लिपिबद्ध कराया। वह महत्वपूण ग्रन्थ 'षटखण्डागम धवल सिद्धान्त' कहलाया।

जन आगम के लेखन का इस धरती पर यही प्रथम प्रयास था। यही मेरे ही आस पास इसी दक्षिणावत मे यह प्रयास प्रारम्भ हुआ। फिर तो

सहस्र वर्षों से अधिक काल तक वह परम्परा यहाँ चलती ही रही। तुम्हारे द्वारा यन्त्रों के माध्यम से ग्रन्थों का मुद्रण प्रारम्भ कर लेने पर उस पारम्परिक लेखन-कला का अवसान हो गया।

मुझे भली भाँति स्मरण हैं वे दिन जब अर्द्धशुष्क ताड-पत्रों पर, तीक्ष्ण लौह-लेखनी द्वारा अनेकों मुनिराज, कभी यहाँ और कभी विन्ध्यगिरि के एकान्त में बैठकर, आगम शास्त्रों का अंकन किया करते थे। उस लेखनी से ताडपत्रों पर उनका लेखन उत्कीर्ण हो जाता था। पश्चात उन पत्रों पर मसिलेप करके उस पर वस्त्र फेरकर स्वच्छ कर देने मात्र से, पूरा लेखन एक साथ मसि अंकित स्पष्ट दिखाई देने लगता था।

मसिचूर्ण निर्माण करने का कार्य श्रावक लोग कर देते थे। वनस्पतियों के योग से उसका निर्माण भी एक कला थी। नारिकेल की खपरी को अनेक वनस्पतियों के साथ अर्द्ध-दग्ध करके, वे उसे अपक्व भाण्ड में, वनस्पतियों का ही रस डालकर प्रहरों पर्यन्त घोटते थे। इतने से ही मसिचूर्ण तैयार हो जाता था। इस चूर्ण में प्रासुक जल के मिश्रण से तत्काल ही वांछित मात्रा में मसिलेप बना लिया जाता। सुचिक्कण ताडपत्रों पर इस प्रकार की मसि का अंकन आभायुक्त और स्थायी होता था। उत्कीर्ण ताड-पत्रों पर मसिलेप करने के लिए और पुनः उन लिप्त पत्रों को स्वच्छ कर देने के लिए श्रावकों के होनहार बालक एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड करते, यहाँ खडे रहते थे।

इस प्रक्रिया से सहस्रों ही ग्रन्थों का लेखन यहाँ मेरे समक्ष हुआ है। पठन पाठन और विचार विमर्श के लिए अन्यत्र से भी अनेक शास्त्र समय-समय पर यहाँ लाये जाते रहे हैं।

तुम्हारी परम्परा का प्रथम शास्त्र उस दिन तुम्हारे पूर्व पुरुष, बड़े महोत्सव के साथ यहाँ लाये थे। उधर, उस गुफा के पास ही, श्रुत की अर्चना का अनुष्ठान उस दिन यहाँ सम्पन्न हुआ। पार्श्ववर्ती सिद्धान्त वसदि में ही विराजमान कर दी थी उन्होंने अपनी वह श्रुतसम्पदा, जिसे तुम धवला, जयधवला और महाधवला कहते हो। वह षटखण्डागम, वही कषायपाहुड, विधर्मियों की प्रलयकारी दृष्टि से बचाकर शताब्दियों तक मेरी ही गोद में सुरक्षित रहा है।

गुरु

गुरु का सान्दर्भ सदैव मुझे एक आह्लादकारी पुलक प्रदान करता रहा है। देव और शास्त्र मेरे क्रोड़ में विराजमान रहकर भी मेरे लिए सदैव मर्यादा के एक सूक्ष्म आवरण से आच्छादित रहे। परन्तु गुरु के संयम

सिद्ध चरणों का साम्पात स्पर्श बार-बार मुझे पावनता प्रदान करता रहा।

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु की समाधि के उपरान्त उनके पद चिह्नों की वन्दना का संकल्प लेकर भद्रबाहु की समाधि-गुफा में बैठकर एक बार ध्यान करने की अभिलाषा लेकर, तुम्हारी मूल परम्परा के प्रायः सभी महान् आचार्य समय-समय पर यहाँ पधारते रहे हैं। अपने पावन चरणों के पुण्य स्पर्श से मुझे पवित्र करते रहे हैं।

संघनायक विशाखाचार्य दो बार यहाँ पधारे। षट्खण्डागम के सूत्रकार पुष्पदन्त और भूतबलि ने भी भद्रबाहु के चरणों की वन्दना की। आचार्य पद्मनन्दि जिन्हें तुम कुन्दकुन्दाचार्य कहते हो, कभी इन्हीं कंदराओं में बैठकर अपने पाहुड ग्रन्थों का पाठ करते थे। गृद्ध पिच्छ आचार्य उमास्वामी ने महीनों तक भद्रबाहु गुफा में ध्यान किया। तुम्हारे इतिहास के सबसे बड़े तार्किक विद्वान् गमकगुरु स्वामी समन्तभद्र को इस ऋषिगिरि का शान्त निराकुल वातावरण साधना के लिए बहुत उपयुक्त लगता था। अपने शिष्यों के समक्ष गंधहस्ति महाभाष्य और षट्खण्डागम की विवेचना करते हुए, कई बार मैंने उन्हें सुना है।

आचार्य पूज्यपाद मुनि-दीक्षा के पूर्व एक कुशल वैद्य थे। तीर्थ वन्दना के साथ साथ तब दुर्लभ वनस्पति औषधियों की खोज में यहाँ भटकते भी मैंने उन्हें देखा है। मुनि-अवस्था में 'सर्वार्थसिद्धि' शास्त्र की रचना में संलग्न उनका सौम्य अध्येता व्यक्तित्व तो आज तक मुझे प्रत्यक्ष-सा दिखाई देता है। इन आचार्यों के उपरान्त भी मुझे पवित्र करने वाले मुनियों आचार्यों की दीर्घ नामावली मेरे स्मृति-पटल पर अंकित है। आचार्य वीरसेन जिनसेन और गुणभद्र, इन तीन गुरु-शिष्यों ने, अपनी महती श्रुतसेवा करते हुए इस चन्द्रगिरि की वन्दना के लिए जो पुरुषार्थ किया उस सबका उल्लेख तुम्हारे शिला-लेखों में उपलब्ध है। सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्रुतज्ञ आचार्य नेमीचन्द्र ने तो मुझे ही अपनी साधना भूमि बनाया। गोम्मटसार द्रव्यसंग्रह और त्रिलोकसार का अधिकांश लेखन यहीं हुआ।

जिन जिन करुणायतन मुनिराजों ने, अपनी पावन चरणरज से मेरी यह नीरस और कठोर देह पवित्र की है, उनके परिमाण को संख्या में बाँधना सम्भव ही नहीं है। इतना जानता हूँ कि मेरा एक-एक कण, निर्ग्रन्थ वीतराग मुनियों के ईर्यासमितिपूर्वक पग विन्यास से प्रतिक्षण तृप्त होता रहा है। मेरी ही गोद में उनके श्रम श्लथ शरीर को ऊष्मा और तप पूत देह को शीतलता मिलती रही है।

इस प्रकार देव, शास्त्र और गुरु की पावन त्रिवेणी का संस्पर्श, अतीत में अनवरत रूप से मुझे प्राप्त होता रहा है। वर्तमान में प्रचुरतापूर्वक हो रहा है, और मुझे विश्वास है कि भविष्य में युगान्त तक वह अविछिन्न रूप से मुझे मिलता रहेगा। ऐसा भाग्यशाली है पथिक, तुम्हारा यह चन्द्रगिरि, यह चिक्कबेट्ट।



४ मेरे महान अतिथि समाधिनिष्ठ आचार्य भद्रबाहु

पथी ! आज मुझे स्मरण आती है वह महान् घटना जब तुम्हारे अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु अपने विशाल संघ सहित यहाँ पधारे थे। उज्जयिनी से कई माह की दीर्घयात्रा करके यहाँ पहुँचे थे वे महामुनि। बहुत तेजस्वी था उनका व्यक्तित्व और बड़ा ही विशाल था उनका संघ। द्वादश सहस्र दिगम्बर मुनिराजों का एक साथ दर्शन करने का मेरे लिए वह प्रथम और अन्तिम अवसर ही था। उस साधु संघ के पधारने से सचमुच मैं धन्य हो उठा था। प्राचीन मन्दिरों से युक्त, निराकुल साधनाभूमि के रूप में मेरी जो ख्याति देश-देशान्तर में फैल चुकी थी वही मेरे उस सौभाग्य का कारण बनी थी।

अभी कल की ही बात है इसी पथ से जाते हुए तुम्हारे कुछ बन्धु बान्धव कह रहे थे—'आचार्य भद्रबाहु के पधारने से इस चिक्कबेट्ट की बड़ी ख्याति हुई।' मैं तब यदि मुखर हो पाता तो ऐसा उनसे कहलवाता कि-- चिक्कबेट्ट का यह छोटासा पर्वत पूर्व में ही इतना विख्यात था, कि इसकी कीर्ति सुनकर ही भद्रबाहु महाराज ने उत्तरापथ से इसे अपना गन्तव्य बनाया और अपनी सल्लेखना की साधना के लिए चुना।

आचार्य भद्रबाहु तीर्थंकर महावीर की परम्परा के अन्तिम श्रुत केवली थे। तप के बल से अपने अज्ञान का निःशेष करके जो तपस्वी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तीनों लोकों को, तीनों कालों के सन्दर्भ में जो जान लेते हैं सकल चराचर जगत् अपनी भूत भविष्यत् और वर्तमान की दशा सहित स्वयं जिनके ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रतिभासित होने लगता है, और जो अपने उसी जन्म से मोक्ष प्राप्त करनेवाले होते हैं, उन्हें केवली या केवलज्ञानी कहा जाता है। जो महामुनि तीर्थंकर की द्वादशांग वाणी

असम्भव हो जायगा। इस अकाल म मुनिया और त्यागियो को सयम पालन करन की अनुकूलता नही होगी। उन्हे अपने कठोर नियम त्यागन पडेंगे, या उनमे शिथिलता स्वीकार करनी पडगी।

आचाय भद्रबाहु समूचे जन सघ के नायक थे। देश भर म फला हुआ विशाल जन साधु-समुदाय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनके अनुशासन म निबद्ध था। महावीर की अचेलक परम्परा को अकाल के इस दुदान्त चक्र से बचाकर, निर्दोष रूप म प्रवतमान रखने का उत्तरदायित्व उस समय भद्रबाहु पर ही था। पूरे भारत की भौगोलिक और प्राकृतिक स्थितियाँ उनकी दृष्टि म थी। वतमान समस्या के प्रति चिन्तित होत हुए भी, भविष्य को वे भलीभांति जान रह थे। सारी परिस्थितियो पर विचार करके उन विवकवान आचाय ने उत्तरापथ के समूचे साधु सघो के लिए आदेश प्रसारित किया—

उत्तरापथ मे बारह वष की अवधि का दारुण दुर्भिक्ष होगा। सयम की साधना और मुनिपद की रक्षा यहा असभव हो जायगी। सभी साधुओ को उचित है कि तत्काल उत्तरापथ छोडकर दक्षिण की ओर पस्थान करें। कर्नाटक और तमिल देशो म वातावरण उपयुक्त है। वहा प्रकृति सामान्य रहेगी। सयम की साधना म कोई प्राकृतिक व्यवधान दक्षिणा पथ म उपस्थित नही होगा।'

साधु-समुदाय के अधिकाश मुनियो ने इस घोषणा को गुरु-आज्ञा की तरह स्वीकार किया। अपन आचाय द्वारा घोषित भविष्यवाणी की सत्यता पर उन्हे तनिक भी सन्देह नही था। शतश योजनो से विहार कर करके भारी सख्या म मुनियो के समूह निर्धारित अवधि के भीतर निश्चित स्थानो पर एकत्र हो गय। द्वादश सहस्र मुनियो के समुदाय के साथ श्रुतकेवली आचाय भद्रबाहु ने, उत्तरापथ का त्याग करके इस ओर पस्थान किया। इस सघ म श्रावक भी बडी सख्या म साथ चल रह थ। सम्राट चन्द्रगुप्त स्वय अपन पुत्र बिन्दुसार को सिंहासन सौपकर ससार, देह और भोगो से विरक्त होते हुए, आचाय के अनुगामी हुए। तुम्हारे पुराणकार और इतिहासकार एक मत से स्वीकार करते है कि देशान्तर के लिए इतने बडे साधु समुदाय का वह प्रस्थान न भूतो न भविष्यति' ही था।

उत्तरापथ म कुछ साधुओ ने आचाय भद्रबाहु के आदेश की अवज्ञा कर दी। उन्होन गुरु की आज्ञा पालने म प्रमाद किया पर दुर्भिक्षकाल म वे अपने सयम की रक्षा नही कर पाये। कालान्तर म उनके आचरण मे शिथिलताओ और विकृतियो का समावेश होता गया। परिस्थितियो

से समझौता करके उन मुनियों ने अर्द्धफालक आदि वस्त्र धारण कर लिये। उनके अनुयायी श्रावकों ने साधु के परम्परागत निर्ग्रन्थ दिगम्बर स्वरूप के स्थान पर वस्त्रधारी स्वरूप को मान्यता प्रदान कर दी। सचेलक सम्प्रदाय का यह प्रारम्भ था। आचार्य स्थूलभद्र उनके आदि गुरु थे।

दिगम्बर मुनियों का एक समुदाय ऐसा भी था जिसने उत्तरापथ का त्याग तो नहीं किया, परन्तु निर्ग्रन्थ परम्परा के प्रति अपनी आस्था को जीवित रखा। उनमें से कुछ ने दुर्भिक्षकाल में सल्लेखना अंगीकार करके शरीर त्याग दिये। कुछ ने आस्थावान समृद्ध श्रावकों की सहायता से, अचेलक धर्म का निर्वाह करते हुए काल-यापन किया। ऐसे भी कुछ साधु थे जिन्होंने अकाल के उपरान्त, सुभिक्ष आ जाने पर, प्रायश्चित लेकर अथवा दीक्षा छेद आदि दण्ड स्वीकार करके, अपने दोषों का परिमार्जन किया। उन्होंने पुनः शास्त्रसम्मत आचरण अंगीकार किये। इस प्रकार उस भयंकर दुष्काल के समय भी उत्तरापथ में निर्ग्रन्थ मुनियों की परम्परा विद्यमान रही। उसका उच्छेद नहीं हुआ। उन मूलसंघी मुनियों ने आचार्य भद्रबाहु को ही अपना आचार्य माना और उन्हीं की परम्परा का अनुशासन स्वीकार किया। अब पाटलिपुत्र के स्थान पर मथुरा उन अचेलक साधुओं का केन्द्र हो गया था।

इस चिक्कवट्ट पर साधना करते हुए आचार्य भद्रबाहु का, उत्तरापथ के उन अचेलक दिगम्बर मुनि-संघों से, निरन्तर सम्पर्क बना रहा। उत्तरापथ से समय समय पर श्रावक और साधु, दक्षिणापथ की यात्रा पर आते रहे और दीर्घकाल तक संघ के नियामक आदेश-निर्देश, यहीं से प्राप्त करते रहे। भद्रबाहु के उपरान्त उनके शिष्य विशाखाचार्य को भी साधु-समुदाय में वैसी ही मान्यता प्राप्त हुई।

तुम्हारे इतिहास के उस घोर दुर्भिक्ष काल में, यह जो मुनि संस्था उत्तरापथ से स्थानान्तरित होकर दक्षिणापथ में स्थापित हुई, वह वर्तमान काल तक अविच्छिन्न रूप से यहाँ विद्यमान है। यदि कभी जान पाओगे अपने आचार्यों का इतिहास, तो तुम्हें ज्ञात होगा कि जैसे तीर्थंकरों का जन्म देने का एकाधिकार उत्तरापथ ने अपने पास सुरक्षित रखा है, उसी तरह जिनवाणी की प्रभावना करनेवाले आचार्य दक्षिणावर्त की भूमि ने ही तुम्हारे देश को प्रदान किये हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने कुछ दिवस तक संघ सहित यहाँ विश्राम किया। पश्चात् उन्होंने स्वयं यहीं ठहरने का संकल्प लेकर, मुनिसंघ को तमिल देश की ओर प्रस्थान करने का आदेश दिया। यह जो चन्द्रगुप्त बसदि देख



१ चन्द्रगिरि का विहंगम दृश्य
[भा० पु० स० नई दिल्ली]

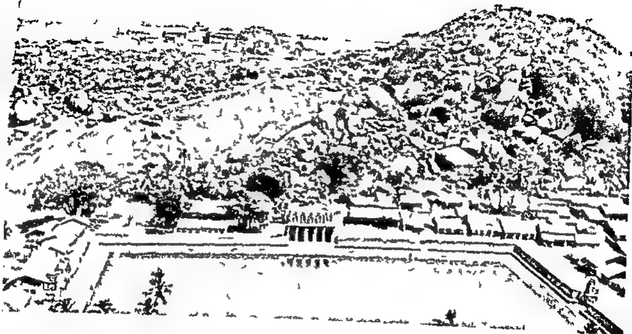
से समझौता करके उन मुनियों ने अर्द्धफालक आदि वस्त्र धारण कर लिये। उनके अनुयायी श्रावकों ने साधु के परम्परागत निर्ग्रन्थ दिगम्बर स्वरूप के स्थान पर वस्त्रधारी स्वरूप को मान्यता प्रदान कर दी। सचेलक सम्प्रदाय का यह प्रारम्भ था। आचार्य स्थूलभद्र उनके आदि गुरु थे।

दिगम्बर मुनियों का एक समुदाय ऐसा भी था जिसने उत्तरापथ का त्याग तो नहीं किया, परन्तु निर्ग्रन्थ परम्परा के प्रति अपनी आस्था को जीवित रखा। उनमें से कुछ ने दुर्भिक्षकाल में सल्लेखना अंगीकार करके शरीर त्याग दिये। कुछ ने आस्थावान समृद्ध श्रावकों की सहायता से अचेलक धर्म का निर्वाह करते हुए काल-यापन किया। ऐसे भी कुछ साधु थे जिन्होंने अकाल के उपरान्त, सुभिक्ष आ जाने पर, प्रायश्चित लेकर अथवा दीक्षा छेद आदि दण्ड स्वीकार करके, अपने दोषों का परिमार्जन किया। उन्होंने पुनः शास्त्रसम्मत आचरण अंगीकार किये। इस प्रकार उस भयंकर दुष्काल के समय भी उत्तरापथ में निर्ग्रन्थ मुनियों की परम्परा विद्यमान रही। उसका उच्छेद नहीं हुआ। उन मूलसंघी मुनियों ने आचार्य भद्रबाहु को ही अपना आचार्य माना और उन्हीं की परम्परा का अनुशासन स्वीकार किया। अब पाटलिपुत्र के स्थान पर मथुरा उन अचेलक साधुओं का केन्द्र हो गया था।

इस चिक्कबेट्ट पर साधना करते हुए आचार्य भद्रबाहु का, उत्तरापथ के उन अचेलक दिगम्बर मुनि-संघों से निरन्तर सम्पर्क बना रहा। उत्तरापथ से समय-समय पर श्रावक और साधु, दक्षिणापथ की यात्रा पर आते रहे और दीर्घकाल तक संघ के नियामक आदेश निर्देश, यहाँ से प्राप्त करते रहे। भद्रबाहु के उपरान्त उनके शिष्य विशाखाचार्य को भी साधु समुदाय में वैसी ही मान्यता प्राप्त हुई।

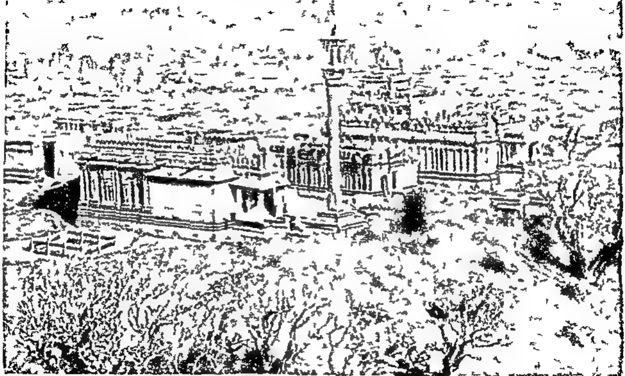
तुम्हारे इतिहास के उस घोर दुर्भिक्ष काल में यह जो मुनि संस्था उत्तरापथ से स्थानान्तरित होकर दक्षिणापथ में स्थापित हुई, वह वर्तमान काल तक अविच्छिन्न रूप से यहाँ विद्यमान है। यदि कभी जान पाओगे अपने आचार्यों का इतिहास, तो तुम्हें ज्ञात होगा कि जैसे तीर्थंकरों को जन्म देने का एकाधिकार उत्तरापथ ने अपने पास सुरक्षित रखा है, उसी तरह जिनवाणी की प्रभावना करनेवाले आचार्य दक्षिणावर्त की भूमि ने ही तुम्हारे देश को प्रदान किये हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने कुछ दिवस तक संघ सहित यहाँ विश्राम किया। पश्चात् उन्होंने स्वयं यहीं ठहरने का संकल्प लेकर, मुनिसंघ को तमिल देश की ओर प्रस्थान करने का आदेश दिया। यह जो चन्द्रगुप्त बसदि देख

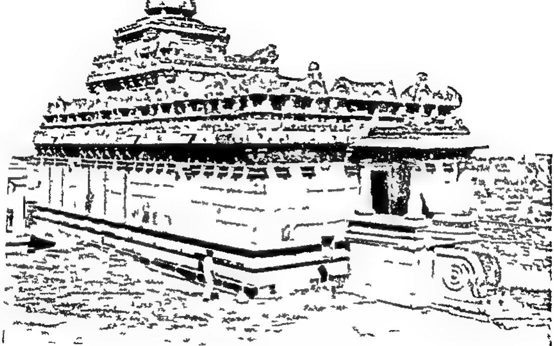


1 घ[illegible]गिरि का विहगम दृश्य

[भा० पु० स०, नई दिल्ली]

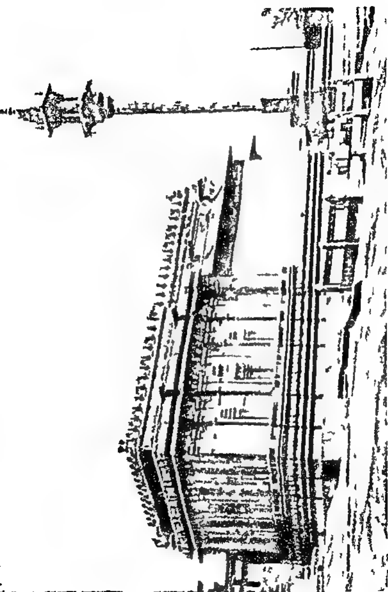


चन्द्रगिरि पर कतिपय देवालय तथा प्राकृतिक पृष्ठभूमि



3 चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय बसदि

[भा० पु० स० मसूर]



रहे हो, उसकी जगह तब वहाँ एक नवकाय जिनालय था। उसी के प्रागण मे विराजमान थे उस दिन आचार्य भद्रबाहु जब उनका साधु सघ उनके श्रीचरणो मे प्रणिपात करके अपनी यात्रा पर अग्रसर हुआ। तब ये अनेक जिनालय यहा अस्तित्व मे नही आये थे। यह प्राचीर भी तब नही बनी थी। नीचे सामने जहाँ वह कल्याणी सरोवर और आवास गृहो की पक्तियाँ दिखाई दे रही हैं, तब वहाँ नारिकेल और पूगीफल के विशाल वृक्षसमूह ही थे। यत्र तत्र सर्वत्र दृष्टि की सीमा तक उस दिन गमनोद्यत साधुओ का समूह ही वहा दृष्टिगोचर होता था। पिता के समान कल्याण चाहनेवाले अपने महान् आचार्य की अन्तिम वन्दना करके वर्णनातीत खिन्नता से भरा हुआ यतियो का वह समूह नि शब्द और शान्त चला जा रहा था। अब उस सघ के नायक थे विशाखाचार्य।

भद्रबाहु स्वामी को अपनी आयु की क्षीणता का पूर्वानुमान हो गया था। सल्लेखनापूर्वक क्षपक-सयम धारण करके, वे उसी गुफा मे समाधि साधना कर रहे थे। इस साधना मे सलग्न वे तपस्वी शरीर मे जितने दुर्बल, जितने कृश होते जा रहे थे उनकी सकल्पशक्ति उतनी ही दृढता प्राप्त करती जाती थी। महाराज अपनी दिनचर्या मे अत्यन्त सावधान और आत्मचिन्तन मे सतत जागरूक थे। उनके जरा-जर्जर मुखमण्डल पर इधर एक अलौकिक दीप्ति दिखाई देने लगी थी। उग्र तपश्चरण से उत्पन्न तेज का एक सहज प्रकाशपुज, उनके चतुर्दिक व्याप्त दिखाई देता था।

सम्राट चन्द्रगुप्त मुनिदीक्षा प्राप्त कर चुके थे। 'प्रभाचन्द्र' अब उनका नाम था। गुरु की सेवा के लिए वे प्रभाचन्द्र मुनिराज उनके समीप यही रहे। अनुपम निष्ठा भक्तिपूर्वक वे समाधिकाल मे गुरु चरणो की सेवा-सुश्रूषा करते रहे। बारह वर्ष उपरान्त यही उनकी भी समाधि सम्पन्न हुई।

इस कुन्तिग कठोर विकरवट्ट का वातावरण उन योगिराज की महती साधना से निर्वैर और प्रभाभिभूत हो उठा था। तब यहाँ मृग और मृगराज को एक ही स्थान पर शान्त निर्द्वन्द्व विचरते देखना मेरा नित्य का कुतूहल था। नृत्यरत मयूर मण्डली के समक्ष फणधर व्यालो का डोलना कोई अनूठी घटना नही रह गई थी। उनके सान्निध्य मे प्रकृति और पुरुष ममता के एक अद्भुत आलोक का अनुभव करते थे।

उधर इस सबसे निस्पृह निर्लिप्त भद्रबाहु स्वामी अपनी एकान्त साधना मे तल्लीन होकर, सल्लेखना के हवनकुण्ड मे, अति निरपेक्ष भाव से एक एक निषेक की आहुति दे रहे थे। शान्तिपूर्वक एक दिन प्रातः

काल उनके जीवन दीप का निर्वाण हुआ। देह-जीव की पृथक्ता के वीतराग दर्शन को जैसा अपने जीवन में प्रतिपादित किया था, वैसा ही यह तत्व, उन्होंने अपने सहज और पीडारहित मरण के द्वारा प्रमाणित कर दिया।

सच रे पथिक! जीवन का इतना सार्थक समापन, और मरण का ऐसा उज्ज्वल आवाहन, तब मैंने पहली बार देखा।



५ मेरे महान् अतिथि राजर्षि चन्द्रगुप्त मौर्य

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के शिष्य, चन्द्रगुप्त मुनिराज ने भी, द्वादश वर्षों की कठोर साधना के उपरान्त, अपने गुरु के चरण चिह्नों की वन्दना करते हुए, वसी ही निर्मम साधनापूर्वक यहीं, इसी गुफा में देहोत्सर्ग किया।

मैंने देखा और सुना है पथिक! महावीर के पश्चात इस देश का अनेक शताब्दियों का राजनैतिक इतिहास, इसी श्रमण-संस्कृति का इतिहास है। श्रेणिक बिम्बसार के सम्बन्ध में महावीर का आख्यान अत्यन्त मुखर है। उपरान्त थोड़े-बहुत व्यवधान को छोड़कर उत्तरापथ के राज्याध्यक्षों और सम्राटों का मस्तक जैन मुनियों के चरणों में सदैव नमनशील रहा है। जैन संस्कृति के संरक्षण में इन सबका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त इसी शृंखला की एक कड़ी थे।

आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त के कुल गुरु थे। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों पर उनका गहरा प्रभाव था। यही कारण था कि इन दोनों महापुरुषों ने जीवन के अन्त में समस्त परिग्रह का त्याग करके मुनि दीक्षा स्वीकार की। चन्द्रगुप्त मुनिराज यहाँ तपस्या करते हुए, अपने गुरु भद्रबाहु का प्रायः स्मरण किया करते थे। गुरु का नामोल्लेख करते हुए श्रद्धा से उनका हृदय गद्‌गद हो उठता था और अनायास ही उनके दोनों हाथ नमस्कार की मुद्रा में मस्तक तक पहुँच जाते थे।

चन्द्रगुप्त इस विशाल देश के साम्राज्य का त्याग कर, दुर्लभ राजसी भोगों को ठुकराकर, इस कठिन साधना मार्ग में दीक्षित हुए थे। जब वे मेरे इस कठोर धरातल की, नंगी चट्टानों पर बठते या घड़ी-दो घड़ी शयन करते आठ प्रहर में केवल एक बार, जब वे अपने फैले हुए हाथों में भिक्षान्न ग्रहण करके, उस नीरस भोजन से उदर पोषण करते थे, तब

उनकी आज की चर्या से, उनके विगत ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के भोगों की तुलना करते हुए, लोग उनके महान् त्याग का धन्य धन्य कह उठते थे।

चन्द्रगुप्त मुनिराज की साधना और सल्लेखना के दो स्मृतिचिह्न आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं। उन्हीं के नाम पर मुझ चिक्कबट्ट को 'चन्द्रगिरि' का कोमल और श्रुतिमधुर सम्बोधन प्राप्त हुआ। उन्हीं के नाम पर कालान्तर में उस छोटे से जिनालय का पुनर्निर्माण होने पर उसका नाम 'चन्द्रगुप्त बसदि' निर्धारित किया गया। पश्चात्वर्ती कितने ही आचार्य और मुनि, साधक और भक्त, उस अनुपम त्यागी की गुणगाथा बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ, यहां बैठकर दोहराते रहे हैं। उन्होंने अपने इतिहास के उन स्वर्णाक्षरों का समय-समय पर यहाँ अनेक स्थानों पर शिलांकित भी किया है। उन गुरु शिष्यों का गुणानुवाद इस चन्द्रगिरि के लिए प्रतिक्षण नवीन है।

चन्द्रगुप्त के स्वर्गारोहण के उपरान्त, लगभग पन्द्रह-सौ वर्ष पश्चात् एक शिल्पकार 'दासोज' ने भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की वह गौरव-गाथा सुन सुनकर, उससे अनुप्राणित और प्रभावित होकर, उत्तरा-पथ से दक्षिणा-पथ के लिए उनके निष्क्रमण का सम्पूर्ण आख्यान, पाषाण फलकों पर अंकित ही कर दिया। तुम्हारे उदार पूर्वजों ने वे शिलाफलक चन्द्रगुप्त बसदि में स्थापित करके दीर्घकाल के लिए सुरक्षित कर लिये। गागर में सागर की तरह छोटे सकीर्ण फलकों पर, उस विशाल आख्यान का अंकन, उस कलाकार की मौलिक प्रतिभा का अनुपम उदाहरण है।

मौर्य सम्राट के घटनापूर्ण जीवनवृत्त का श्रवण मुझे आज भी प्रिय है। उनकी महानताओं का स्मरण करके फिर यह स्मरण करना, कि उन महाभाग ने एक निरीह भिक्षु की तरह मेरा आतिथ्य स्वीकार किया मुझे बड़ा सुखद लगता है। यदि उस काल तुम्हारे पूर्व-पुरुषों में अपने इतिहास को लिपिबद्ध करने के प्रति थोड़ी भी रुचि होती, तो उसे पढ़कर तुम जान पाते पथिक ! कि चन्द्रगुप्त के जीवन में कितने आरोह-अवरोह घटित हुए थे। इतिहास के उस अद्वितीय ऐश्वर्यशाली सम्राट का राज सिंहासन से असमय उतर जाना सम्राट के मुकुट और छत्र का अनायास त्याग कर देना अकारण नहीं था। चिन्तन की ठोस धरा पर ही सम्राट चन्द्रगुप्त के अनुपम त्याग का भवन स्थापित हुआ था।

जीवन के प्रारम्भ में अपनी महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित, चाणक्य के मार्ग-दर्शन में उत्कर्ष की ओर एक एक पग धरता हुआ, हर पग पर बाधाओं का सहार और कष्टकों का विमोचन करता हुआ चन्द्रगुप्त, साम्राज्य के सिंहासन तक पहुँचा था। वह सिंहासन किसी का त्यक्त उप

करण नही था किसी का भोगा हुआ विभव नही था। यह वह सिंहासन था जिसका निर्माण चन्द्रगुप्त ने अपने पुरुषार्थ से किया था। हिमालय से लेकर दक्षिणी समुद्र तक दक्षिणापथ आर्यावर्त और उसकी सीमाओ के पार तक एक-एक अंगुल भूमि पर अपनी भुजाओ के बल से ही चन्द्रगुप्त ने अपनी प्रभुता स्थापित की थी। वह साम्राज्य सही अर्थों मे उसका 'स्वभुजोपार्जित' साम्राज्य था।

इतने बड़े साम्राज्य के विधिवत् सचालन के लिए चन्द्रगुप्त ने प्रान्तीय राजधानिया की स्थापना की थी जहाँ से उसके राज्यपाल शासन-सूत्र का सचालन करते थे। गृह प्रदेश म पाटलिपुत्र से सम्राट स्वय शासन की वल्गा सम्हालते थे। यूनानी राजा सेल्यूकस से जीते हुए सीमावर्ती प्रान्तो का शासन कपिशा से होता था। तक्षशिला उत्तरापथ की राजधानी थी। दक्षिणापथ पर सम्राट का शासन सुवर्णगिरि म सचालित होता था। गिरिनगर म बठकर उसका राज्यपाल तुषास्प सौराष्ट्र पर शासन करता था और पश्चिमी भारत के शासन का सचालन उज्जयिनी से होता था।

चन्द्रगुप्त के जीवन म कुछ ऐसी घटनाएँ घटी थी जिनसे उसे चिन्तन के अनेक आयाम प्राप्त हुए थे। नन्दो का मूलोच्छेद करके उसने अपने हाथो ही एक शक्तिशाली राजवश को इतिहास के गर्त म गाड दिया था। दक्षिणावर्त की विजय के अभियान म उसने महाराष्ट्र, कोकण आन्ध्र और कर्नाटक की राजकीय ध्वजाओ को अपने चरणो म नत किया। मध्य एशिया के शक्तिशाली यूनानी राजा सेल्यूकस की सेनाओ को युद्धक्षेत्र म पराजित करके काबुल, हेरात कन्दहार और बलूचिस्तान पर भी अपने साम्राज्य के सीमा चिह्न उसने स्थापित किये। इस प्रकार उस प्रतापी सम्राट् ने अपनी मातृभूमि के सीमान्तो से भी विदेशी सत्ता का उन्मूलन कर दिया था।

चन्द्रगुप्त की राज्य-सीमाओ को आदर्श मानकर ही, कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ म चक्रवर्ती-क्षेत्र की परिभाषा का विधान किया। उत्तरापथ के अनेक यात्रियो ने समय-समय पर मेरे देवालयो म जो मुद्राएँ अर्पित की हैं उनम मौर्य सम्राट के द्वारा प्रचलित की गई अनेक मुद्राएँ मैंने देखी हैं। त्रिरत्न चत्यवृक्ष और दीक्षावृक्ष आदि अनेक जन प्रतीक इन मुद्राओ पर अकित हैं।

राजनीति के सचालन म किस प्रकार राजे और सम्राट कठपुतली बनकर रह जाते हैं, सिंहासन की मर्यादा कितनी पराधीनताओ म उन्हे जकड देती है, यह अनुभव चन्द्रगुप्त प्राप्त कर चुके थे। तात्कालिक कूट

नीति मे प्रयुक्त होने वाली विषकन्याओ से चन्द्रगुप्त के जीवन की सुरक्षा के लिए, उन्हे बताये बिना चाणक्य उनके भोजन मे सन्तुलित विष का प्रयोग करते थे। धीरे धीरे उन्होने चन्द्रगुप्त को विष का ऐसा अभ्यस्त बना दिया जिससे विषकन्याओ का सम्पर्क उन्हे हानि न पहुँचा सके। एक दिन अपने उसी कथंचित विषाक्त भोजन का एक ग्रास, कौतुक और स्नेहवश उन्होने अपनी प्रिया को खिला दिया। क्षणमात्र म ही उस गर्भवती रानी पर विष का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। चाणक्य ने शल्य चिकित्सा के साधन जुटाकर गर्भस्थ शिशु को जीवित बचा लिया, किन्तु रानी की प्राण रक्षा नही हो सकी। विष के प्रभाव से मस्तक पर एक श्याम बिन्दु लेकर अवतरित हुआ वही बिन्दुसार युवा होकर साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।

आज एक दीर्घ अन्तराल के उपरान्त भी, अपनी उस प्राणवल्लभा की, मरणवेदना से छटपटाती हुई देह का स्मरण कर चन्द्रगुप्त काँप जाते थे। अन्त समय उसके नेत्रो की निरीहता ने और उसकी विवशता ने महीनो तक चन्द्रगुप्त का निद्रावरोध किया था। जब जब वे ऐसा सोचते कि षडयन्त्र भरी राजनीति के चक्र का एक निर्जीव-सा यन्त्र बन जाने के कारण ही, उन्हें यह अप्रिय घटना झलनी पडी थी यह दारुण दुख उठाना पडा था तब अपने साम्राज्य की अटूट सम्पदा के प्रति उनका मन विरक्ति से भर उठता था।

सम्राट चन्द्रगुप्त अपने निष्कण्टक सिंहासन पर बठकर, अनेक बार विचार करते थे—

"असीम आकाक्षाओ के वशीभूत होकर महत्वाकाक्षाओ की महा ज्वाला मे झुलसते हुए साम्राज्य का यह प्रासाद खडा किया, परन्तु यह तो मन को सुख का तनिक भी सवेदन नही दे पा रहा है। उल्टे उसके सरक्षण की आकुलता अब उससे भी अधिक दाह पहुँचा रही है। सन्तोष के साथ परिग्रह का निराकुलता के साथ वभव और ऐश्वय का क्या दूर का भी कोई सम्बन्ध नही?"

चिन्तन की इसी धारा का प्रभाव था जिसने चन्द्रगुप्त के जीवन की दिशा ही बदल दी। राजकाज वे करते थे परन्तु उसमे कोई आनन्द अब उनके लिए शेष नही था। राज्य लक्ष्मी और भोगो के रस अब उन्हें बे रस लगने लगे थे। चाणक्य की अनेक वजनाओ को टालते हुए उन्होने साम्राज्य के सचालन से अपने आपको मुक्त करने का निर्णय लिया। अपने इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए एक सुदृढ योजना बनायी। *बिन्दुसार को पाटलिपुत्र का उत्तरदायित्व सौंपकर चन्द्रगुप्त का उज्ज*

यिनी निवास इसी योजना का प्रथम चरण था।

सम्राट के उज्जयिनी पहुँचने पर, उसी वर्ष ऐसा सुयोग हुआ, कि उनके गुरु आचार्य भद्रबाहु ने, उज्जयिनी में ही अपना वर्षावास स्थापित किया। चार मास तक गुरु के सान्निध्य में दार्शनिक ऊहापोह का दुर्लभ अवसर चन्द्रगुप्त को इस वर्षायोग में प्रतिदिन प्राप्त होता रहा। गुरु के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति होते हुए भी चन्द्रगुप्त के व्यस्त जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आये थे जब निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व भाव से गुरु वाणी का श्रवण करने की उस पर चिन्तन मनन करने की सुविधा उन्हें उपलब्ध हुई हो। इस बार दार्शनिक पृष्ठ भूमि में संसार की स्थिति का वास्तविक आकलन करने का अवसर सम्राट को प्राप्त हुआ। वीतराग निर्ग्रन्थ आचार्य की जीवनपद्धति को भी पहली बार उन्होंने निकट से देखा। आचरण में अहिंसा वाणी में स्याद्वाद और चिन्तन में अनेकान्त का समावेश हो जाने पर मनुष्य का जीवन कितनी महानताओं से मण्डित हो जाता है वह चमत्कार वे प्रत्यक्ष देख रहे थे। समता परिणामों से जिस निराकुलता की प्राप्ति होती है उसका अनुभव उन्हें हो रहा था।

चातुर्मास के थोड़े दिन शेष थे तब एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सोलह दुःस्वप्न देखे। आचार्य महाराज ने निमित्त ज्ञान के आधार पर इन स्वप्नों का जो अर्थ कहा उस वाणी ने सम्राट् के भीतर पनपती हुई वैराग्य की भावना को और प्रोत्साहित कर दिया।

भद्रबाहु आचार्य ने सम्राट के स्वप्नों का विश्लेषण करके इस प्रकार भविष्यवाणी की—

डूबते हुए सूर्य का दर्शन इस बात का संकेत है कि महावीर के मार्ग को प्रकाशित करने वाला आगम का ज्ञान उत्तरोत्तर अस्त होता हुआ समाप्त होगा।

कल्पवृक्ष की शाखा भंग बतलाता है कि भविष्य में राजपुरुष वैराग्य धारण नहीं करेंगे।

सछिद्र चन्द्रमण्डल का अर्थ यही है कि विधर्मियों और नास्तिकों द्वारा धर्म का मार्ग छिन्न भिन्न किया जायगा।

बारह फणवाला सर्प अपने अस्तित्व से स्वप्न में घोषित कर गया है कि इस उत्तरापथ में बारह वर्ष के लिए भीषण दुर्भिक्ष होगा।

लौटता हुआ देवविमान कहना चाहता है कि अब इस काल में देव, विद्याधर और ऋद्धिधारी संतों का अवतरण पृथ्वी पर नहीं होगा।

दूषित स्थान में खिले हुए कमल से फलित होता है कि कुलीन और

प्रबुद्ध जन भी अनीति और अधम की ओर आकर्षित होंगे।

भूत प्रेतों का बीभत्स नृत्य स्पष्ट करता है कि जनमानस पर अब प्राय उन्हीं की छाया रहेगी।

जुगनू चमकने का संकेत यह संदेश देता है कि धर्म की ज्योति जिनके भीतर प्रज्ज्वलित नहीं है ऐसे पाखण्डी लोग भी धर्मोपदेशक बनकर, धर्म के नाम पर लोकरंजन और स्वार्थ-साधन करेंगे।

क्वचित् किंचित् जल सहित शुष्क सरोवर देखकर यह समझना चाहिए कि धर्म की स्व-पर कल्याणी वाणी का तीर्थ, धीरे-धीरे शुष्क हो जायेगा। कहीं-कहीं क्वचित ही उसका अस्तित्व शेष बचेगा।

स्वर्ण-थाल में खीर खाता हुआ श्वान देखने से फलित होता है कि आगामी काल में नीच वृत्तिवाले चाटुकार ही लक्ष्मी का उपभोग करेंगे। स्वाभिमानी जनों को वह प्राय दुष्प्राप्य होगी।

स्वप्न में गजारूढ़ मर्कट इतनी ही घोषणा करने आया था कि भविष्य में राजतन्त्र, चचल मतिवाले अधानुकर पटु-जनों के हाथों से विद्रूपित होगा।

मर्यादा का उल्लंघन करके समुद्र की लहरों ने यह संकेत दिया है कि अब शासक और लोकपाल, न्यायनीति की सीमाओं का उल्लंघन करेंगे। वे उच्छृंखल होकर स्वयं अपनी प्रजा की लक्ष्मी कीर्ति स्वाधीनता आदि का हरण करेंगे और नारियों की लज्जा, सतीत्व आदि से खेलेंगे।

बछड़ों के द्वारा रथ का वहन इस बात का प्रतीक है कि अब लोगों में युवावस्था में ही, धर्म और संयम के रथ को खींचने की शक्ति पायी जायेगी। वृद्धावस्था में यह शक्ति क्षीण हो जायेगी।

गज पर आरूढ़ होने वाले राजपुत्रों का ऊँट पर आसीन दिखाई देना, यह संकेत देता है कि अब राजपुरुष, व्यवस्थित और शान्तिपूर्ण मार्गों का परित्याग करके असन्तुलित और हिंसा से भरे मार्ग पर चलेंगे।

धूल धूसरित रत्नों का अवलोकन यह अप्रिय सन्देश देता है कि भविष्य में संयमरत्न के रक्षक निग्रन्थ तपस्वी भी एक दूसरे की निन्दा और अवर्णवाद करेंगे।

काले हाथियों का द्वन्द्व युद्ध बताता है कि गरजते हुए मेघ सानुपातिक जलवृष्टि अब प्राय नहीं करेंगे। यत्र तत्र अवर्षण और अतिवर्षण से प्रजा को कष्ट होगा।

सम्राट के स्वप्नों की इस परिभाषा ने सभी को आकुलित कर दिया। आचार्य भद्रबाहु द्वारा विचारित बारह वर्ष के अकाल की भविष्यवाणी, लोगों को अब और भी भयानक लगने लगी। सम्राट चन्द्रगुप्त की मनो

दशा इन स्वप्नो के उपरान्त और भी अशान्त हो गयी। उनके मन का वैराग्य समुद्र मे ज्वार की तरह हिलोरें लेने लगा।

एक दिन बडे महोत्सवपूर्वक बिन्दुसार के मस्तक पर अपना मुकुट धर कर उन्होने वैराग्य का सकल्प कर लिया। समस्त परिजनो पुरजनो और प्रजाजनो के प्रति, ममतापूर्वक क्षमाभाव दर्शाते हुए, सबके प्रति समताभावपूर्वक उन्होने आचार्य भद्रबाहु से दिगम्बरी मुनि-दीक्षा धारण कर ली।

अब वे समस्त परिग्रह से रहित, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज दिन मे एक बार खडे खडे बद्ध अजलिपुट मे लेकर स्वल्प आहार करते और वन की किसी गुफा या वृक्षाश्रय आदि मे निर्भीक होकर तपस्या करने लगे। योग और ध्यान का उन्होने शीघ्र ही अच्छा अभ्यास कर लिया। सम्राट चन्द्र-गुप्त के साथ अनेक पुरुषो ने मुनि-दीक्षा धारण की थी। वे सभी मुनि भद्रबाहु के इस विशाल सघ के साथ, उत्तरापथ से इस ओर आने के लिए प्रस्थित हुए।

दक्षिणापथ पर चन्द्रगुप्त का यह प्रथम पदार्पण नही था। इसके पूर्व अपनी दिग्विजय यात्रा मे उनकी अपराजेय चतुरगिणी, समूचे दक्षिणा पथ को रौद चुकी थी। पूर्व से पश्चिम तक समुद्र से समुद्र तक की सारी भूमि उस यात्रा मे उनके साम्राज्य का अग बन चुकी थी। गिरिनार की चन्द्रगुफा और सुदर्शन झील के शिलालेख आज भी उनकी उस विजय यात्रा के प्रमाण हैं। इस प्रकार तीन खण्ड पृथ्वी पर एकाधिकार स्थापित करनेवाले अर्द्धचक्री राजाओ के उपरान्त इतने बडे भूमिभाग को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत लानेवाले, चन्द्रगुप्त ही प्रथम और अन्तिम सम्राट थे।

इस बार चन्द्रगुप्त की यह द्वितीय दक्षिण-यात्रा, एक विलक्षण यात्रा थी। अब वे मौर्य साम्राज्य के सीमा विस्तार के लिए 'विजययात्रा' पर नही निकले थे वरन स्व-साम्राज्य का स्वामित्व पाकर, श्रमण सस्कृति के प्रचार और प्रसार के लिए विहार कर रहे थे। अब उनके साथ चतु रगिणी की नही दर्शन ज्ञान चारित्र और तप रूप चार आराधनाओ की शक्ति थी। अब पूर्व-पश्चिम उत्तर और दक्षिण, इन चार दिशाओ की विजय के लिए नही क्रोध मान माया और लोभ इन चार कषायो को जीतने के लिए उनका यह अभियान था। अब धनुष-बाण और तल वार के स्थान पर सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रत्नत्रय का त्रिशूल ही उनका अस्त्र था। जन मन को आतकित करनेवाले राजदण्ड के स्थान पर, अब उनके हाथो मे जीव मात्र के लिए अभय का आश्वासन देने वाली

मयूर पखवाली पीछी, शोभायमान थी।

स्वामी चन्द्रगुप्त शरीर से अत्यन्त सुकुमार और प्रकृति से बहुत मदुल थे। उनका राजसी भोगों से परिपुष्ट सुचिक्कण—गौर शरीर, तपस्वी जीवन के कठोर कायक्लेश के कारण श्यामल और रूक्ष हो गया था। वे शरीर के प्रति निममत्व और निरपेक्ष होकर उत्कृष्ट तपाचार के आराधन में सलग्न थे। तब उनकी लोकोत्तर साधना की कीर्ति दूर दूर तक प्रसारित हो रही थी। उनके दर्शनार्थी श्रावक स्त्री-पुरुषों का यहा मेला लगा रहता था। दूर दूर से आगत मुनि और आचार्य उन यशस्वी तपस्वी की चरण वन्दना करके अपने को धन्य मानते थे। सुदूर उत्तर से भी प्राय अनगिनते लोग, सामान्यजन और राजपुरुष भी, उन राजर्षि के दर्शनार्थ आते मैंने देखे हैं। उन लोगों के शीघ्रगामी, सधे हुए अश्वों की पक्तिया, और पशु-लोम से बनाये हुए विचित्र वर्णाकार वाले वस्त्राभरण, कर्नाटकवासी जनों के लिए कुतूहल की वस्तु होते थे।

चन्द्रगुप्त मुनिराज की समाधि-साधना भी उनके गुरु भद्रबाहु की साधना की तरह निर्दोष और दृढ परिणामों के साथ सम्पन्न हुई। भारत भूमि के विशालतम साम्राज्य के अधिपति, उस महान् सम्राट् ने जीवन के सन्ध्याकाल में समस्त बहिरंग और अतरंग परिग्रह का त्याग करके उत्कट आराधनापूर्वक अपनी पर्याय के विसर्जन को, बड़ी कुशलता से नियोजित किया। जीवन के अन्तिम चरण में, अवश्यम्भावी मरण के सोत्साह वरण का साधनेवाला, उनका वह सयत आचरण सचमुच अनुकरण करने योग्य था।

इस प्रकार भगवान महावीर की परम्परा की दो अनुपम और अन्तिम विभूतियों ने अपनी साधना द्वारा, इस चन्द्रगिरि को पवित्र किया। समस्त आगम के पारगामी श्रुतज्ञों की शृंखला में जसे आचार्य भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे, वसे ही मुकुट उतारकर केशलोच करनेवाले राजभवन से सीधे ही वनगमन करनेवाले अन्तिम मुकुटधर नरेश थे सम्राट चन्द्रगुप्त। उनके पश्चात किसी मुकुटबद्ध नरेश ने जिनदीक्षा धारण करने का साहस नहीं दिखाया।

इन गुरु शिष्य की सल्लेखना के उपरान्त, मेरी निराकुल गोद में समाधिमरण का पावन अनुष्ठान सफल करने की भावना, सहस्रों साधुओं का अभीष्ट बनती रही। ऐसी ख्याति हुई इस साधनाधाम के निराकुल वातावरण की, इतनी कीर्ति फैली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के उत्कृष्ट समाधि विधान की, कि शत शत योजनों से आकर सल्लेखनाकांक्षी यतियों ने मुझे पावनता प्रदान की। नाना प्रकार के साहसपूर्ण प्रत्याख्यान

करके उन निरीह निस्पृह यथाजात यतियों ने और यतिनायकों ने, यहीं अपने तपस्वी जीवन के धवल सौधों पर समाधिमरण के उज्ज्वल कलश स्थापित किये। आस्थावान गृहस्थ भी राजा और प्रजा, स्त्री और पुरुष इस पवित्र भूमि पर शान्ति सहित अपने जीवन का, निराकुल अन्त करने के लिए लालायित रहते थे। तुम्हारे पुराशास्त्री बतायेंगे कि ऐसे लगभग एक सहस्र दिगम्बर मुनियों के समाधिमरण अनुष्ठानों का उल्लेख, इस नगर के शिलालेखों में आज भी उपलब्ध है। जिन अज्ञात साधकों के नाम शिलाओं पर अंकित नहीं हुए उनकी संख्या तो और भी अधिक है।



६ मेरे महान् अतिथि : परम तपस्वी आचार्य नेमिचन्द्र

वर्षा ऋतु अभी-अभी व्यतीत हुई थी। कुछ ही दिनों पूर्व भगवान् महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाकर साधु-यतियों ने चातुर्मासिक प्रतिक्रमणपूर्वक वर्षायोग का समापन किया था। सहसा एक दिन प्रातःकाल परिवेश का वातावरण एक अनोखी हलचल से व्याप्त हो उठा। आसपास के नगरों ग्रामों से श्रावक समुदाय धीरे धीरे आकर यहाँ एकत्र हो रहा था। उस समय यहाँ चन्द्रगुप्त वसदि अपने इस रूप में अवस्थित हो चुकी थी। उसके समीप ही चन्द्रप्रभ वसदि का निर्माण हो चुका था। शासनसेवक ब्रह्मदेव के लिए 'इरवे ब्रह्मदेव' वसदि भी स्थापित हो चुकी थी। गंगवंशीय प्रतापी नृपति मारसिंह की सल्लेखना की स्मृति स्वरूप यहाँ 'कूगे ब्रह्मदेव' स्तम्भ की स्थापना को तो बहुत थोड़ा ही काल हुआ था।

आज प्रातः ही दोनों जिनालयों का मार्जन और उनकी परिकर भूमि का शोधन हुआ। पत्रमालाओं और पुष्पगुच्छकों से उनकी सज्जा कराई गयी। ब्रह्मदेव वसदि से उठता हुआ सुगंधित धूम, चहुँ ओर फैलकर वातावरण में सुरभि और पवित्रता का प्रसार कर रहा था। कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ को ताड़पत्रों और नारिकेल की मालाओं से सज्जित किया गया था। इस स्तम्भ की पीठिका पर अंकित आठों दिशाओं को गुंजित करती, आठों गजराज आकृतियाँ, चित्र विचित्र मणि मालाओं और कौशेय वस्त्रों से सजाई गई थीं। इस स्तम्भ की वे गजमूर्तियाँ अब नष्ट हो चुकी हैं। उस दिन मेरा पूरा ही अस्तित्व वन्दनवारों और पुष्प तोरणों से गूंथ दिया गया था।

लोगों में अद्भुत उत्साह व्याप्त था। उनमें चर्चा थी कि लोकविख्यात श्रुतज्ञ, श्री नेमिचन्द्राचार्य और उनके शिष्य वीरमार्तण्ड चामुण्डराय आज

यहाँ पधार रहे हैं। तीर्थ-वन्दना के लिए जाता हुआ उनका चतुर्विध यात्रासंघ आचार्य भद्रबाहु के चरणचिह्नों के सान्निध्य में कुछ दिन विश्राम कर वे अवसर होगा, ऐसा वे लोग कह रहे थे।

आचार्य नेमिचन्द्र के चरणों का स्पर्श पूर्व में एकाधिक बार मुझे प्राप्त हो चुका था। आगम सिद्धान्त के सर्वोपरि ज्ञाता के रूप में उन दिनों दूर-दूर तक उनकी ख्याति थी। विशाल मुनिसंघों के मध्य, इसी चिक्कबेट्ट पर, उनके अनेक प्रवचन हो चुके थे। उनके शिष्यों की संख्या बहुत बड़ी थी। इस यात्रा में भी उनके कुछ शिष्य साथ में पधारेंगे ऐसी चर्चा सुनाई दे रही थी।

आचार्य अभयनन्दि के शिष्य सिद्धान्त के पारगामी आचार्य नेमिचन्द्र अत्यन्त कुशल आचार्य थे। चामुण्डराय एक कुशल शास्त्र-स्वामी और दार्शनिक चिन्तक भी थे इस कारण उनके ऊपर आचार्य की अनुकम्पा और वात्सल्य भाव रहना स्वाभाविक था। चामुण्डराय भी नेमिचन्द्राचार्य का अतिशय सम्मान और गुरु की तरह ही मान्यता देते थे। उनके अगाध आगम ज्ञान से वे निरन्तर लाभान्वित होते रहते थे। राजकीय उत्तरदायित्व के निर्वहन में भी चामुण्डराय को आचार्यश्री से परामर्श और मार्गदर्शन प्राप्त होता रहता था। सैद्धान्तिक चर्चाएँ और प्रश्नोत्तर तो उन दोनों के मध्य प्रायः ही होते रहते थे। चामुण्डराय को शास्त्रों का अच्छा अभ्यास था। उनमें एक सन्तुलित शासक के सभी गुण थे और नेमिचन्द्राचार्य अपने स्नेहभाव द्वारा, अपनी ज्ञान की धारा से उन गुणों को प्रोत्साहित करते रहते थे।

षट्खण्ड आगम सिद्धान्त के मर्मज्ञ उन आचार्य के चरणों का पावन स्पर्श, आज पुनः प्राप्त होगा यह संवाद सुन पुलकित कर गया।



७ मेरे महान् अतिथि वीरमार्तण्ड चामुण्डराय

नीचे जहाँ आज तुम्हारा यह श्रवणबेलगोल नगर बसा है वहाँ उन दिनों मठ व आसपास थोड़े से आवास थे। झाड़ झंखाड़ और नारियेल के वृक्ष ही अधिक थे। महामात्य चामुण्डराय के सुयोग्य पुत्र जिनदेवन, सेवकों और कार्यकर्मियों का भारी समुदाय लेकर, यात्रासंघ के अग्रगामी दल के रूप में कल यहाँ आ चुके थे। आचार्य महाराज और चामुण्डराय आज पधारने वाले थे। कुशल सेवकों का भारी समूह उस सारी भूमि का संस्कार करके उस पर पट मण्डपों का निर्माण कर रहा था। उनके अभ्यस्त हाथों से एक ही प्रहर में वस्त्रावासों की कई पंक्तियाँ वहाँ खड़ी हो गई थीं। पीछे की ओर सेवकों के लिए पर्णकुटियाँ और अश्वों रथों के लिए स्थान बनाया गया था। एक ओर ताड़ और नारियेल के पत्रों की छानी डालकर पाकशाला का निर्माण भी हो चुका था।

चामुण्डराय का परिचय जानना चाहोगे? गंगवंशीय राजाओं का मन्त्री और सेनापति तथा इस गोमटेश प्रतिमा का निर्माता।' बस इतिहास के झरोखे से तो इतना ही दिखाई देता है चामुण्डराय का व्यक्तित्व। पर उस प्रतापी महापुरुष के अगाध और बहु-आयामी व्यक्तित्व के लिए यह परिचय अधूरा और अपर्याप्त ही है। वह तो अनेक प्रतिभाओं का पुंज था। मैंने अनेक बार उस परम पुरुषार्थी जन वीर के जीवन के गौरवशाली आख्यान सुने थे।

इतिहास प्रसिद्ध गंगवंश में प्रतापी जैन राजा, जगदेकवीर धर्मावतार राचमल्ल हुआ। उसी नरेश को सत्यवाक्य चतुर्थ के नाम से भी जाना जाता है। वीर चामुण्डराय इसी गंगनरेश का मन्त्री और महासेनापति था। क्षत्रिय वंश में उत्पन्न यह महापुरुष विलक्षण राजनीतिज्ञ, कुशल सैन्यसंचालक और परम स्वामिभक्त था। वास्तव में गंग राज्य

के मन्त्री और सेनापति का पदभार उसने राजा राचमल्ल के पूर्वज मारसिंह के राज्य में ही ग्रहण कर लिया था और राचमल्ल के उत्तराधिकारी रक्कस गंग के राज्यकाल तक, बड़ी निष्ठा, योग्यता और नैतिकता के साथ उस गरिमामय पद का निर्वाह किया।

यथार्थ में गंग राजवंश के अवसान-काल में इन तीनों ही राजाओं के समय, चामुण्डराय की स्थिति 'महामात्य' और 'महासेनापति' से बहुत ऊपर, एक संरक्षक जैसी बन गई थी। यही कारण था कि मारसिंह ने अपने अन्त समय में अपने अल्पायु स्वामी एवं भानजे राष्ट्रकूट नरेश इन्द्रचतुर्थ की रक्षा का भार अपने उत्तराधिकारी राचमल्ल पर नहीं, चामुण्डराय पर छोड़ा था।

कर्नाटक का इतिहास बखानते समय तुम्हारे इतिहासकारों ने पग-पग पर चामुण्डराय की यशोगाथा का गान किया है। उन्होंने एक स्वर से स्वीकार किया है कि उससे बड़ा जिनेन्द्र भक्त, वैसा वीर योद्धा, उतना बड़ा समरविजेता और वैसा सज्जन धर्मात्मा व्यक्ति कर्नाटक में दूसरा नहीं हुआ।

पराक्रम साहस और शौर्य के लिए दूर-दूर तक चामुण्डराय की ख्याति फैल गई थी। उसने अपूर्व कौशल से गंग सेना का संगठन किया था। वह अपनी सेना के एक-एक व्यक्ति के सुख-दुख का भागीदार होता था, उन पर अपार स्नेह रखता था। यही कारण था कि दीर्घकाल तक गंग राज्य की सैन्य शक्ति, अजेय और दुर्भेद्य मानी जाती रही। अपने विश्वस्त सैन्य दल के साथ जब चामुण्डराय युद्ध के लिए प्रस्थान करता तब उसके सबल से सबल प्रतिपक्षी भी भयभीत और आतंकित होकर काँप उठते थे। उसने अनेक युद्ध लड़े थे और उनमें गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी।

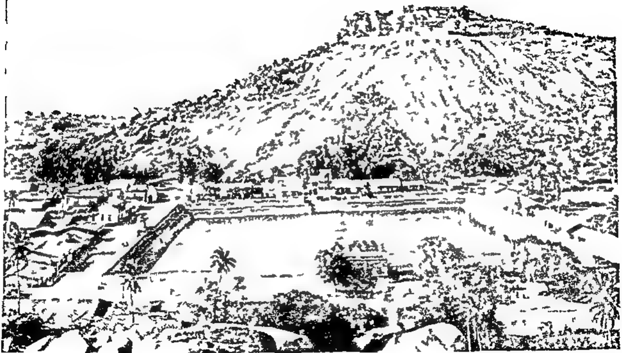
खेड़ग के युद्ध में वज्जलदेव को हराकर चामुण्डराय ने 'समर धुरंधर' की उपाधि अर्जित की। गोनूर के युद्ध में नोलम्ब राजों पर उसकी विजय उसे 'वीर मार्तण्ड' की पदवी से मण्डित कर गयी। राजादित्य का उच्छंगी के दुर्ग में बन्दी बनाने पर उसे 'रणरंगसिंह' कहा गया और बागेयूर के दुर्ग में त्रिभुवन वीर को हराकर उस दुर्ग का आधिपत्य गोविन्दार को दिलाने पर वह 'वैरिकुल-कालदण्ड' कहलाने लगा। उसी प्रकार अपने सैन्य जीवन की अन्य अनेक सफलताओं के स्मृति स्वरूप चामुण्डराय ने 'भुजविक्रम', 'समरकेसरी', 'प्रतिपक्ष राक्षस' 'सुभट चूड़ामणि' और 'समर परशुराम' आदि अनेक उपाधियाँ धारण की थीं। सचमुच वह एक अद्भुत वीर पुरुष था।

राजनीतिक क्षेत्र में चामुण्डराय की श्रेष्ठता के अंकन के लिए दो ही तथ्यों का उल्लेख पर्याप्त है। पहला यह कि वह गंग राजाओं की तीन पीढ़ियों तक प्रधान मन्त्री और सेनापति, इन दोनों पदों का निर्वाह एक साथ करता रहा। दूसरा यह कि उसने इतना शक्तिशाली होने पर भी कभी प्रभुता की आकांक्षा नहीं की। किसी नारी को विकारी दृष्टि से नहीं देखा और अनीति का द्रव्य कभी स्वीकार नहीं किया। गंगराज्य की रक्षा और विस्तार के लिए उसने अपने जीवन भर पूरी क्षमता और दक्षता से अपने कर्तव्य का पालन किया।

गंग वंश की अवनति वेला में, अपने अशक्त और अस्वस्थ स्वामी का पराभव करके, स्वयं सिंहासनारूढ़ हो जाना, चामुण्डराय के लिए बहुत सरल था। उन दिनों राजनीति में ऐसी घटनाएँ सामान्य मानी जाती थीं। ऐसे अनेक उदाहरण भी सामने थे, पर, चामुण्डराय ने शक्ति, सामर्थ्य और अवसर उपस्थित रहते हुए भी, कभी ऐसी इच्छा नहीं की। चार वर्षों तक गंग राज्य का यथार्थ सञ्चालक और वास्तविक संरक्षक होकर भी, वह प्रजा की दृष्टि में सेनापति और अमात्य ही बना रहा। राज्य के वैभव, और नवीन राजवंश की स्थापना का सहज उपलब्ध अवसर ही, चामुण्डराय की सबसे बड़ी कसौटी थी। तुम्हारा इतिहास साक्षी है पथिक ! कि इस कसौटी पर वह महापुरुष, सौ टंच खरा उतरा।

तेनकाडु के धर्मप्राण श्रावक महाबलय्य और कालल देवी का वह लाडला सपूत चामुण्डराय इतनी राजनैतिक महानताएँ धारण करते हुए भी सर्वप्रथम एक आस्थावान श्रावक था। भगवान् जिनेन्द्र का और अपनी जननी काललदेवी का वह परम भक्त था। अन्याय, अनीति और अनाचार उसके जीवन को कभी रंचमात्र भी लांछित नहीं कर पाये थे। पंच अणुव्रतों की रेखाओं से रक्षित उसका गार्हस्थ जीवन, सुख, शान्ति और प्रामाणिकता का उत्तम आदर्श था। आचार्य अजितसेन उसके गुरु थे। आचार्य नेमिचन्द्र का शिष्यत्व भी चामुण्डराय ने ग्रहण किया था।

वास्तव में नेमिचन्द्राचार्य महाराज के सम्पर्क के कारण ही चामुण्डराय के तेजस्वी और प्रतापवान व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। उनकी कृपा से ही उसमें यह चमत्कारपूर्ण शक्ति उत्पन्न हो सकी कि वह एक हाथ में शस्त्र और दूसरे हाथ में शास्त्र, एक साथ ग्रहण करता था। उचित कार्य के लिए, उचित अवसर पर, दोनों का उपयोग करने का विवेक, और उनके संचालन की अद्भुत क्षमता चामुण्डराय को सदा प्राप्त था। उसके यशस्वी हाथों में दोनों की मर्यादा सुरक्षित रहती थी।

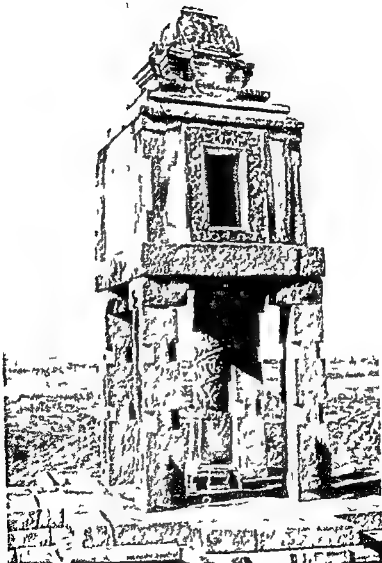


5 विन्ध्यगिरि और कल्याणी सरोवर का विहगम दृश्य

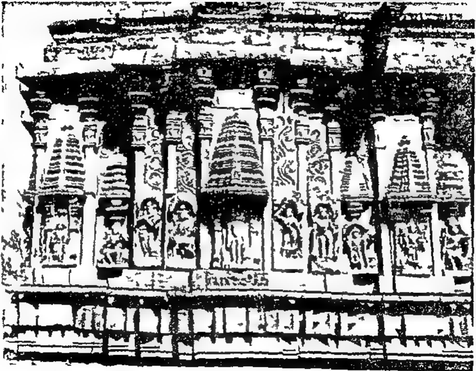
[भा० पु० स० ससर]



६ गोम्मटेश्वर बाहुबली



7 स्यामद महादेव स्तम्भ (बीच म स्थित)
[भा० पु० स०, नई दिल्ली]



8 जिननाथपुर मे शान्तिनाथ मन्दिर की बाह्य भित्ति का कलावैभव

तुमने सुना होगा, एक बार जब नेमिचन्द्राचार्य महाराज षटखण्डागम ग्रन्थ का स्वाध्याय कर रहे थे, तभी चामुण्डराय उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। उन्हें देखते ही आचार्य महाराज ने ताडपत्रों की वह पोथी बाँधकर रख दी। इतना भर नहीं, चामुण्डराय के पूछने पर उन्होंने उसका कारण भी स्पष्ट कर दिया—

यह सिद्धान्त ग्रन्थ अत्यन्त क्लिष्ट है। तुम्हारे भीतर अभी उसके अवलोकन की पात्रता नहीं है।'

चामुण्डराय का मन निर्मल अभिप्राय से ओतप्रोत था और जिन-वाणी के अमृत के लिए उनकी पिपासा अनन्त थी। उन्होंने तत्काल निवेदन किया—

सिद्धान्त का वह सार, मेरे जैसे जड बुद्धि जिज्ञासुओं के अनुग्रह के लिए, सरल शब्दों में उपलब्ध करा दीजिये महाराज !'

आचार्यश्री ने अनुकम्पापूर्वक उसी समय शिष्य के इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया। अपने स्वाध्याय के साथ ही उन्होंने षटखण्डागम के विषय का संक्षिप्त लेखन भी प्रारम्भ कर दिया। इस ग्रन्थ का नाम रखा गया पंचसंग्रह'। गोमट' चामुण्डराय का ही एक नाम था, इसी कारण कालान्तर में यह ग्रन्थ 'गोम्मटसार' नाम से प्रसिद्ध हुआ। चामुण्डराय ने इस महान् ग्रन्थ की एक विशाल टीका कन्नड में लिखी थी जिसे वीर मार्तण्डी टीका' कहा गया है।

चामुण्डराय अतिशय पुण्यशाली महापुरुष था। पुण्यकर्मों की उत्तम प्रकृतियाँ उसकी सत्ता में उत्कृष्ट अनुभाग शक्ति के साथ विद्यमान थीं। यही कारण था कि जीवन भर सफलता उसकी अनुगामिनी रही। जिस कार्य का भी उसने समारम्भ किया, वह कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ और चामुण्डराय के लिए यश और ख्याति का कारण बनता रहा। उसने अपने आग्रह से सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र महाराज के द्वारा 'गोम्मटसार' और 'त्रिलोकसार' जैसे ग्रन्थों की रचना करायी। चामुण्डराय पुराण नाम से उसने कन्नड भाषा का प्रथम गद्य ग्रन्थ लिखा। संस्कृत में 'चारित्रसार' जैसे ग्रन्थों की रचना की। कन्नड के अनेक कवियों कलाकारों को आश्रय देकर उसने अनगिनते काव्यों और कलाकृतियों की रचना में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। वह स्वयं भी अच्छा कवि और कुशल कलामर्मज्ञ था। गोमटेश भगवान की इस प्रतिमा का निर्माण कराकर तो चामुण्डराय ने अपने जीवन भर की सफलताओं के प्रासाद पर स्वर्ण कलश ही चढा दिया।

धर्म की निस्पृह प्रभावना और गुरुभक्ति जैसी विशेषताओं के

कारण चामुण्डराय को 'शौचाभरण', 'सत्ययुधिष्ठिर', और 'देवराज' आदि अनेक उपाधियों से अलंकृत करके प्रजा जनों ने उसके प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन किया था।

जिनशासन का श्रेष्ठ भक्त तो चामुण्डराय था ही, उसकी मातृ भक्ति भी अनुपम थी। दूर देशों तक माताएँ अपने उद्दण्ड बालकों को, मातृभक्ति के आदर्श के रूप में, चामुण्डराय का उदाहरण दिया करती थीं। शैशव में उसके मनोहर रूप रंग के कारण उसे गोमट नाम से पुकारा जाता था। चामुण्डराय की जननी काललदेवी अभी भी उसके इसी क्षिप्र नाम का उपयोग करती थीं। नेमिचन्द्राचार्य महाराज को भी उसका यही नाम अधिक प्रिय था। उसे शैशव के इस नाम से सम्बोधन करनेवाला तीसरा कोई व्यक्ति अब जीवित नहीं था।

काललदेवी अतिशय श्रद्धालु भद्र महिला थीं। उन्होंने बड़े जतन से अपने बेटे का चरित्र निर्माण किया था। चामुण्डराय की धर्मपत्नी अजितादेवी दयाधर्म का पालन करनेवाली पतिपरायणा नारी थी। अतिथि-सत्कार और चारों प्रकार के दान में उनकी विशेष रुचि थी। उनका पुत्र जिनदेवन सौम्यता और सज्जनता का साक्षात् अवतार ही था। पुत्रवधू का नाम था सरस्वती। उस महिला रत्न का अनिंद्य सौन्दर्य, उसके अपरिमित गुण, और स्नेहपूर्ण बर्ताव, उसके नाम को सार्थक करते थे।

सरस्वती अच्छे संस्कारों में पली, बड़ी शिक्षित नारी थी। मैंने सुना था कि वह अत्यन्त निपुण कलापारखी, नृत्य-संगीत की विशारद, अनुकम्पावान और स्नेहपूर्ण स्वभाव की ममतामयी उदार महिला थी। सरस्वती के अंक में सुन्दर और चपल स्वभाव वाला, एक छोटा-सा बालक था, सौरभ।

आज इसी जिनभक्त श्रावक परिवार की अभ्यर्थना करने का मेरा भाग्य था।



८ वे अनोखे अभ्यागत

दोपहर दिन ढल था जब यात्रासंघ का यहाँ आगमन हुआ। आचार्य नेमिचन्द्र महाराज अपने संघ सहित चन्द्रगुप्त बसदि में विराजमान हुए। चामुण्डराय ने अपने पूरे परिवार के साथ उन सद्य निर्मित वस्त्रावासों में विश्राम किया। यहाँ पूर्व सन्ध्या से एकत्र सभी आगत-श्रद्धालु समागता के स्वागत में और व्यवस्था में तत्परता से सलग्न हो गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल यहीं जहाँ तुम अभी उठे हो एक विशाल सभा हुई। दूर-दूर के श्रद्धालु श्रावक उस दिन यहाँ उपस्थित थे। आचार्यश्री की मधुर वाणी द्वारा जिनागम का उपदेश श्रवण करने का यह अवसर, कोई भी छोड़ना नहीं चाहता था। प्रवचन के उपरान्त संघस्थ पण्डिताचार्य ने यात्रा संघ का अभिप्राय इस प्रकार कहा—

राजधानी तलवाड़ु के जिनालय में मातेश्वरी काललदेवी ने आचार्य जिनसेन के महापुराण में आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेव का पावन चरित्र श्रवण किया। सम्राट भरत के साथ बाहुबली के युद्ध का आख्यान और बाहुबली के अनुपम वैराग्य की कथा उन्हें विशेष प्रिय हुई। बाहुबली के लोकोत्तर त्याग-तपश्चरण का प्रसंग बार बार सुनकर उन्होंने हृदयगम किया। तभी उस मन्दिर में विराजमान एक मुनिराज से उन्होंने यह भी सुना कि भरत चक्रवर्ती ने बाहुबली की सवा पाँच-सौ धनुष अवगाहना वाली एक विशाल प्रतिमा पोदनपुर में स्थापित की थी। किसी पुण्यजीवी को ही उस महाविग्रह के दर्शन प्राप्त हो पाते हैं।'

— मातेश्वरी के मन में उस महामूर्ति के दर्शन की अभिलाषा जागृत हुई है। उनकी इस पावन इच्छा की पूर्ति के लिए ही उनके आज्ञाकारी सुपुत्र गंगराज्य के प्रतापी महामात्य वीरमार्तण्ड चामुण्डराय का पोदनपुर की धर्मयात्रा के लिए, यह अभियान है। महामात्य के पुत्र

कुमार जिनदेवन स्वत इस यात्रा संघ की व्यवस्था कर रहे हैं।'

—'आचार्यश्री नेमिचन्द्र महाराज के संघ सहित विहार करने से इस धर्मयात्रा का आनन्द दुगुना हो उठा है। जो भी श्रावक, स्त्री पुरुष, त्यागी या गृहस्थ, इस अवसर का लाभ उठाना चाहे, यात्रा-संघ में सम्मिलित होने के लिए महामात्य की ओर से उन्हें सादर निमन्त्रण है। मार्ग में उनकी व्यवस्था और सेवा करके कुमार जिनदेवन अपने आपको भाग्यशाली मानेंगे।'

—'आज यहां एकत्र होकर आप सबने संघ का स्वागत किया है, यह आचार्यश्री के प्रति आपकी भक्ति, और महामात्य के प्रति आपकी सम्मान भावना का प्रतीक है। जब जब महामात्य का आगमन यहां हुआ, आपका ऐसा ही सम्मान उन्होंने प्राप्त किया है। पूरा संघ आपके वात्सल्य भाव के प्रति आभारी है। जब तक संघ यहां विराजमान है, प्रतिदिन महामात्य के साथ भोजन ग्रहण करने के लिए अजितादेवी ने आपको सादर आमन्त्रित किया है।'

पण्डिताचार्य की स्नेह सिक्त वाणी से सभी आनन्दित हुए। अनेकों ने मन ही मन पोदनपुर की यात्रा का संकल्प कर लिया। प्रबुद्ध श्रावकों ने कुछ समय और यहां विश्राम करने का चामुण्डराय से आग्रह किया। तीर्थ वन्दना, गुरु उपदेश और सत्संग की त्रिवेणी उन्हें आकर्षित कर रही थी। आचार्यश्री की चरण-सेवा का लाभ, वे समस्त जन, और कुछ दिनों तक प्राप्त करने के आकांक्षी थे।

श्रद्धास्पद जननी की संकल्प पूर्ति के लिए अधीर चामुण्डराय, सधर्मियों का यह आग्रह टाल न सके। आचार्य की सहमति प्राप्त करके उन्होंने अनुरोध का उत्तर दिया—

'अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु और मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त की समाधि साधना से पावन यह 'श्रवणबेलगोल' शाश्वत तीर्थ है। सात सौ दिगम्बर मुनिराजों का निर्माह सल्लेखना से इस चन्द्रगिरि का एक एक कण पवित्र हुआ है। इस तीर्थ की सेवा सम्हाल के लिए आप सभी की हम सराहना करते हैं। संघ के लिए अधिक समय तक यहां ठहरने का आग्रह, हमारे प्रति आपकी स्नेह भावना का प्रतीक है। इस आग्रह को टालने की सामर्थ्य हममें नहीं है अतः एक सप्ताह यहां ठहर कर हम चन्द्रनाथ भगवान् की पूजन का पुण्य लाभ प्राप्त करेंगे।'

फिर इस संघ का पोदनपुर के लिए कभी प्रस्थान नहीं हुआ, प्रवासी।

९ दर्शन की अभिलाषी आँखें

सात दिवस के लिए यात्रा की आकुलता से मुक्त होकर, संघ यहाँ स्थिर हो गया था। पूजा-पाठ, प्रवचन और पठन-पाठन आदि कार्यक्रम, प्रायः दिन भर चलते थे। काललदेवी अपनी पुत्रवधू अजितादेवी के साथ नित्य प्रातः चन्द्रगुप्त बसदि में भगवान् की पूजन करने के उपरान्त, आचार्यश्री का उपदेश सुनतीं। चामुण्डराय की भोजनशाला में सभी अभ्यागतों को आदरपूर्वक भोजन कराया जाता। यह व्यवस्था सरस्वती स्वयं देखती थी।

इतना सब होते हुए भी काललदेवी, चामुण्डराय और आचार्य महाराज, तीनों का चित्त, अस्थिर रहता था। बाहुबली भगवान् के दर्शन की अभिलाषा लेकर यह यात्रा प्रारम्भ की गई थी। पोदनपुर के मार्ग में एक दिन का भी विलम्ब चामुण्डराय को असह्य लगता था। काललदेवी का मन सबसे अधिक आकुलित था। उन्हें अपनी आयु बहुत थोड़ी शेष दिखाई देती थी। वे शरीर छोड़ने के पहले बाहुबली भगवान् की छवि का एक बार भरपूर दर्शन कर लेना चाहती थीं। भर नयन उनकी अकम्प मुद्रा को निहारने की लालसा, काललदेवी की अन्तिम अभिलाषा थी। वही उनका एकमात्र संकल्प था। जबसे उन्होंने बाहुबली की कथा और भरत द्वारा स्थापित प्रतिमा का वर्णन सुना था, तब से बाहुबली उनकी कल्पना में बस गये थे। उनके क्षीण ज्योति नेत्र, प्रति समय चारों ओर उस छवि को ढूँढते-से लगते थे। खुली आँखों से भले ही आराध्य का वह रूप उन्हें दिखाई नहीं देता था, परन्तु आँखें बन्द करते ही, कल्पना में बसी वह मनोहर छवि उनके सामने साकार हो जाती थी। अनेक बार मन्दिर में बैठकर जब वे भगवान् का ध्यान करने लगतीं, तब ध्यानस्थ होते ही उनके सामने से तीर्थंकर प्रतिमा तिरोहित हो जाती और उसके स्थान

पर बाहुबली भगवान आ खड़े होते थे। काललदेवी की विकलता किसी से छिपी नहीं थी। अब तो उनके मन प्राण में बाहुबली का ही वास था।

अजितादेवी से एक दिन चामुण्डराय ने यह भी सुना कि बाहुबली स्वामी के दर्शन तक के लिए मातेश्वरी ने दूध का त्याग कर दिया है। माता की इस प्रतिज्ञा ने चामुण्डराय को चिन्तित कर दिया। उन्होंने कभी अपनी माता की किसी भी आज्ञा के पालन में क्षणमात्र का भी विलम्ब नहीं किया था। एक भी ऐसा प्रसंग उनकी स्मृति में नहीं था जब माता की कोई आकांक्षा थोड़े समय भी उनके कारण अपूर्ण रही हो। आज जब वे विचारते कि मातेश्वरी के जीवन के अंतिम समय में उनका एक शुभ संकल्प अधूरा है, उसकी पूर्ति में विलम्ब हो रहा है, तब उनका मन संक्लेशित हो उठता था।

आचार्य नेमिचन्द्र भी काललदेवी की भक्ति भावना से प्रभावित थे। उनके मन की आकुलता से भी वे भली भाँति परिचित थे। वे इस दिशा में चामुण्डराय के पुरुषार्थ और प्रयत्नों का पूरा मूल्यांकन कर रहे थे, परन्तु फिर भी, न जाने क्यों उनका मन इस अभियान की सफलता के प्रति आश्वस्त नहीं था। सिद्धान्त के मर्मज्ञ वे आचार्य विचार करते थे कि चौथे काल के प्रारम्भ में भरत ने जो मूर्ति स्थापित की होगी इतने दीर्घकाल तक उसका सुरक्षित बने रहना कैसे सम्भव है। वे भली भाँति जानते थे कि अकृत्रिम रचनाओं को छोड़कर मानवकृत सारी रचनाएँ थोड़े ही समय में कालदोष से स्वतः नष्ट हो जाती हैं। कोटि-कोटि सागर काल व्यतीत हो जाने पर भी उनका अस्तित्व बना रहे, यह कभी सम्भव ही नहीं है।

मेरे शीष की चट्टानों पर बैठकर आचार्यश्री प्रायः यही चिन्तन किया करते थे। अपनी मर्मभेदी दृष्टि से वे कभी शून्याकाश को, और कभी विन्ध्यगिरि के शिखर पर उभरे हुए ऊँचे-ऊँचे प्रस्तर भागों को निहारते रहते थे। ऐसा लगता था कि काललदेवी की तरह उनकी आँखें भी, बाहुबली के विग्रह को इसी परिवेश में से ही ढूंढ निकालना चाहती हैं।



10 स्वप्न संकेत

उन दिनों आचार्य का मन अस्थिर-सा था। सामायिक में उनकी एकाग्रता प्रायः खण्डित हो जाती थी। बार-बार बाहुबली की कल्पित छवि उनके दृष्टिपथ में आती और तिरोहित हो जाती थी। इन दिनों वे षट्खण्डागम सिद्धान्त का स्वाध्याय कर रहे थे और चामुण्डराय के सम्बोधन के लिए अपने स्वाध्याय का संक्षिप्त सार, प्राकृत गाथाओं में निबद्ध करते जाते थे। इस प्रकार उनका लेखन धीरे धीरे चल रहा था।

एक दिन सिद्धान्त का चिन्तन मनन करते-करते रात्रि के अन्तिम प्रहर में, चन्द्रगुप्त बसदि की शिला पर निद्रालीन आचार्य महाराज ने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में उन्होंने अनुभव किया कि पोदनपुर में भरत द्वारा स्थापित बाहुबली की वह प्रतिमा माटी के एक बड़े टीले में दब गई है। चारों ओर से वृक्षों, लतागुल्मों, और कटीली झाड़ियों ने वह स्थान दुर्गम बना दिया है। हजारों विषैले कुक्कट सर्पों ने अपना आवास बनाकर उस स्थान को मानव संचार के लिए अत्यन्त दुरूह और भयानक कर दिया है। स्वप्न में आचार्य को कुछ ऐसा भी संकेत मिला कि जैसे कोई उनसे कह रहा है—

'चामुण्डराय श्रद्धावान समर्थ और दृढ़संकल्पी श्रावक है। वह यदि संकल्प करे, तो यहीं, इसी स्थान पर बाहुबली को प्रकट किया जा सकता है। यहीं पोदनपुर के बाहुबली की अनुकृति साकार की जा सकती है।'

संकेत पूरा होते ही स्वप्न समाप्त हो गया। निद्राहीन होकर तत्काल आचार्य महाराज चिन्तन में लीन हो गये। बाहुबली के गुणानुवाद के साथ उन्होंने प्रातःकाल की सामायिक सम्पन्न की।

संयोग की बात है, चामुण्डराय ने भी उस दिन ऐसा ही स्वप्न

प्राणियो के उद्धार का दीर्घकाल तक निमित्ताधार बनने वाली है उसे पोदनपुर के दुर्गम वन मे ढूढकर क्या होगा ? तुम कब तक किसे किसे पोदनपुर की यात्रा कराओगे ? उस मूर्ति को तो अब यही प्रकट करना है। काय दुष्कर भले लगता हो पर तुम्हारे लिए असम्भव नही। जाओ मातेश्वरी की सहमति प्राप्त करो। कल प्रात काल दो घडी दिन चढे यह शर-सन्धान तुम्हे करना है।'

यही बाहुबली प्रकट होगे आचाय की यह वाणी सुनकर कालल देवी का मन आह्लादित हो उठा। उन्हे अब अपनी अभिलाषा की पूर्ति सहज सम्भव दिखाई देने लगी। अपने गोमट के सिर पर स्नेह भरा हाथ फेरकर उन्होने सफलता के लिए अपने आशीष उस पर बिखेर दिये।

चामुण्डराय के यशस्वी करो मे इतना बडा महान काय सम्पादित होगा इस सम्भावना ने अजितादेवी को गौरव की अनुभूति दी।

हर्ष विभोर सरस्वती जिनवन्दना का कोई पद भक्तिपूवक गुनगुना उठी।

कुछ समय तक नित नवीन ग्रामीण सखा मित्रो के साथ वन क्रीडा का अवसर मिलेगा इस समाचार ने सौरभ को भी पुलकित कर दिया।

जिनदेव का उत्साह सौगुना हो गया। स्वप्न का वत्तान्त और आचायश्री का निर्देश कानो म पडते ही उसने व्यवस्था का प्रारम्भ कर दिया। समीपस्थ नगर म ही राज्यशिल्पी का निवास था। अनेक सुन्दर जिनबिम्बो का निर्माण करके वह ख्याति अर्जित कर चुका था। उसे लाने के लिए प्रस्थान करन म जिनदेवन के स्वामिभक्त अश्वारोहियो को एक घडी का भी विलम्ब नही हुआ। शिल्पी ने चामुण्डराय के कटक म आकर ही रात्रि विश्राम किया।



देखा। चन्द्रगिरि पर से "रस-स्थान करके, एक तीर विन्ध्यगिरि की दिशा म छोडने का सकेत उन्हे स्वप्न मे प्राप्त हुआ। 'जिस शिला को वह बाण चिह्नांकित कर देगा, उसी का तक्षण करने पर बाहुबली की छवि प्रकट होगी। मातेश्वरी का सकल्प पूरा करने का यही माग है।' यही महामात्य के स्वप्न का आश्वासन था।

प्रात काल चामुण्डराय कुछ शीघ्र ही इस चिक्कबेट्ट पर पधार गये। जिनेन्द्र का दशन-पूजन करके वे आचायश्री के समक्ष उपस्थित हुए। उस समय आचायश्री अपने स्वप्न का ही चिन्तन कर रहे थे। वे यथाशीघ्र चामुण्डराय पर अपना मन्तव्य प्रकट कर देना चाहते थे। इधर चामुण्डराय स्वप्न की अपनी उपलब्धि को आचाय के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए अधीर थे। दोना के मन म अपना मन्तव्य उजागर करने की उतावली थी, परन्तु चामुण्डराय को निमिषमात्र भी विलम्ब असह्य हुआ। बठते ही उन्हाने अपनी बात प्रारम्भ कर दी। सारा वत्तान्त सुनकर प्रसन्न होते हुए महाराज बोले—

गोमट! समस्या का समाधान अब हम प्राप्त हो गया है। यह विचित्र सयोग है कि ऐसा ही स्वप्न सकेत हमे भी मिला है। हमने विचारपूवक निणय कर लिया है पोदनपुर अब हम नही जायेंगे। तुम्हारे पुरुषाथ म और मातेश्वरी की भक्ति म वह सामथ्य है, जिसके बल पर यही इसी पवत पर उन भरतेश बाहुबली का आवाहन किया जा सकेगा।'

'इतना ही नही गोमट! हम ऐसे ग्रहयोग भी स्पष्ट देख रहे हैं, जिनके अनुसार तुम्हारे द्वारा स्थापित यह प्रतिमा सहस्रो वर्षों तक, कोटि-कोटि जनो को आनन्द प्रदान करती हुई स्थिर रहेगी। भव्यजन इसे धमसाधन का निमित्त बनायेंगे। उन अपराजेय योगी के दशन से मनुष्य म ऐसा पुरुषाथ जागृत होगा जिससे अनादि की मिथ्या वासनाओ पर मानव की विजय सदाकाल सहज सम्भव होती रहेगी।'

'तुम्हारा भाग्य है वत्स! कि तुम इस महान काय के लिए निमित्त बन रहे हो। आज तुम उस महाविग्रह की महिमा की कल्पना नही कर पाओगे। निर्मित होने पर ही जान पाओगे कि यह प्रतिमा देश विदेश म, सारे भूमण्डल म अद्वितीय होगी। यह अनोखी कलाकृति समूचे विश्व को विस्मित करती हुई दीघकाल तक स्थायी रहेगी। मातेश्वरी की भक्ति और तुम्हारी निष्ठा की कीर्ति ही बाहुबली प्रतिमा के रूप मे, दीघकाल के लिए यहाँ स्थापित हो जाना चाहती है।

विचार करो गोमट! जो प्रतिमा ससार-पक म फँसे हुए असख्य

प्राणियो के उद्धार का दीघकाल तक निमित्ताधार बनने वाली है उसे पोदनपुर के दुगम वन मे ढूढकर क्या होगा ? तुम कब तक किसे किसे पादनपुर की यात्रा कराओगे ? उस मूर्ति का तो अब यही प्रकट करना है। काय दुष्कर भले लगता हो पर तुम्हारे लिए असम्भव नही। जाओ माते श्वरी की सहमति प्राप्त करो। कल प्रात काल दो घडी दिन चढ़े यह शर-सन्धान तुम्हे करना है।'

यही बाहुबली प्रकट होगे आचाय की यह वाणी सुनकर कालल देवी का मन आह्लादित हो उठा। उन्हें अब अपनी अभिलाषा की पूर्ति सहज सम्भव दिखाई देन लगी। अपने गोमट के सिर पर स्नेह भरा हाथ फेरकर उन्होने सफलता के लिए अपने आशीष उस पर बिखेर दिये।

चामुण्डराय के यशस्वी करो से इतना बडा महान काय सम्पादित होगा इस सम्भावना न आजितादेवी को गौरव की अनुभूति दी।

हप विभोर सरस्वती जिनवन्दना का कोई पद भक्तिपूवक गुनगुना उठी।

कुछ समय तक नित नवीन ग्रामीण सखा मित्रो के साथ वन क्रीडा का अवसर मिलेगा इस समाचार न सौरभ को भी पुलकित कर दिया।

जिनदेव का उत्साह सौगुना हो गया। स्वप्न का वृतान्त और आचायश्री का निर्देश मानो म पडते ही उसन व्यवस्था का प्रारम्भ कर दिया। समीपस्थ नगर मे ही राज्यशिल्पी का निवास था। अनेक सुन्दर जिनबिम्बो का निर्माण करके वह ख्याति अर्जित कर चुका था। उसे लाने के लिए प्रस्थान करने म जिनदेवन के स्वामिभक्त अश्वारोहियो को एक घडी का भी विलम्ब नही हुआ। शिल्पी ने चामुण्डराय के कटक म आकर ही रात्रि विश्राम किया।



11 शर-सधान

यह दोड्डबेट्ट का पर्वत, जिसे तुम लोग 'विन्ध्यगिरि' कहते हो, उन दिनों एकदम सूना और निष्प्राण-सा था। प्रात काल या साँझ के धुंधलके में कभी कृष्ण मृगों का समूह या चवरी गायों की गोट अवश्य उस पर विचरती दिखाई दे जाती थी। कभी-कभी रात्रि में वनराज की दहाड़ से भी उसकी नीरवता भंग होती थी। मेरे पृष्ठ भाग पर मन्दिरों और देवायतनों की सख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। इन देवायतनों का आश्रय लेकर तप-साधना करनेवाले साधु भी, कभी-कभी नीरव स्थान की आकांक्षा में दोड्डबेट्ट की किसी कन्दरा में, या शिलाश्रय में ध्यान अथवा पठन पाठन करने वहाँ चले जाते थे। बस इतना ही स्पन्दन, इतना ही जीवन सचार आता था दोड्डबेट्ट के अनुभव में अन्यथा एक चिर नीरवता, एक अन्तहीन निस्तब्धता ही उसकी नियति थी।

कभी-कभी मुझे अपने इस सहोदर के भाग्य पर करुणा उपजती थी। पतित-पावन जिनालयों को अपने मस्तक पर धारण करने के गौरव की जब-जब मुझे अनुभूति होती तब-तब प्राय मैं दोड्डबेट्ट की बात विचारने लगता। क्या कभी इसके भी दिन फिरेंगे ? क्या कभी आयेंगे वे सौन्दर्य स्रष्टा, जो मेरे इस सहोदर का भी शृगार करेंगे ? मुझे भासता था कि कभी न कभी अवश्य आयेंगे वे महाभाग, जिनकी कल्पना इस अनगढ विराटता को रूपाकार के साँचे में ढाल देगी। जिनका पुरुषार्थ मेरे ही समक्ष हतप्रभ होते हुए, मेरे इस अग्रज को, वरिष्ठता की यथार्थ गरिमा प्रदान करके ही मानेगा। जिनकी कला-साधना इस रूक्ष और निष्प्राण पाषाण में सुन्दरता, मृदुता और सजीवता की प्रतिष्ठा करके, अमर हो जाने के लिए तड़प उठेगी। नेमिचन्द्राचार्य की योजना सुनकर आज मैं बहुत आश्वस्त हुआ। मुझे बड़ी प्रसन्नता थी कि अब मेरी तरह मेरे उस सहो-

दर का भी भाग्योदय होनेवाला है।

शर-संधान के दिन प्रातःकाल चामुण्डराय ने चन्द्रप्रभ वसदि में अष्टम तीर्थंकर चन्द्रनाथ की अर्चना भक्ति करके, अपने समस्त परिकर और उपस्थित जनों के साथ, अष्ट द्रव्य से नेमिचन्द्राचार्य महाराज का पूजन किया। उस समय महाराज के नयन नत और दृष्टि अन्तर्मुखी थी। उन यतिनायक की मुद्रा देखकर सहसा जिनदेवन की स्मृति में, पूज्यपाद आचार्य द्वारा चित्रित, उमास्वामी भगवन्त का चित्र स्पष्ट-सा भासने लगा—

'मुनिपरिषद् मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं।

(वे आचार्य मुनियों की सभा में बैठे हुए प्रतिमा की तरह अचल, बोले बिना मात्र अपने शरीर की निर्विकार स्थिरता से ही मोक्ष मार्ग का साक्षात निरूपण कर रहे थे।)

पूजन के उपरान्त महाराज के चरणों में अष्टांग प्रणिपात करके चामुण्डराय ने करबद्ध निवेदन किया—

'कार्य बहुत बड़ा है स्वामी! मेरी सामर्थ्य सीमित है। यदि कहीं कोई त्रुटि हो गई, कुछ अपूर्णता रह गई, तो जग हँसेगा इस क्षुद्र पर। सफलता के लिए आपका आशीर्वाद ही मेरा सम्बल है।'

आचार्य महाराज ने आश्वासन दिया 'चिन्ता मत करो भद्र! प्रयत्न में प्रमाद मत करना, भाग्यपर भरोसा करना, सफलता अवश्य मिलेगी। कर्तृत्व के अहंकार से अपने को बचाकर रखना, तुम्हारा कल्याण होगा। चलो शर-संधान की वेला उपस्थित है।'

उधर नीचे की ओर, उन बड़ी शिलाओं के मध्य, काष्ठ-आसन पर आचार्य विराजमान हुए। सामने ही चौकी पर चामुण्डराय का धनुष और वह स्वर्ण बाण रखा था जो इस लक्ष्य शोध के लिए विशेष रूप से बनवाया गया था। सरस्वती ने रंग बिरंगे कनकचूर्ण से सुन्दर चौक पूर दिया। उत्सुकतापूर्वक बड़ी संख्या में लोग इस अश्रुतपूर्व अभियान को देखने के लिए यहाँ एकत्र हो गए थे।

आचार्य ने एक बार बाहुबली भगवान् की जय का उद्घोष करके तीन बार पंच नमस्कार मन्त्र का स्वर सहित पाठ किया—

णमो अरहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।

णमो लोए सव्वसाहूण ॥१॥
एसो पच णमोकारो सव्व-पावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि पढम हवइ मगल ॥२॥
चत्तारि मगल।
अरहता मगल।
सिद्धा मगल।
साहू मगल।
केवलि-पण्णत्तो धम्मो मगल ॥३॥
चत्तारि लोगुत्तमा।
अरहता लोगुत्तमा।
सिद्धा लोगुत्तमा।
साहू लोगुत्तमा।
केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा ॥४॥
चत्तारि सरण पव्वज्जामि।
अरहते सरण पव्वज्जामि।
सिद्ध सरण पव्वज्जामि।
साहू सरण पव्वज्जामि।
केवलि-पण्णत्त धम्म सरण पव्वज्जामि ॥५॥

महाराज कहा करते थे कि यह मन्त्र सभी सिद्धियो का प्रदान करने वाला है। समस्त आगत-अनागत विघ्न-बाधाओ को पार करके, सकल्प को पूर्णता प्रदान करने की अद्भुत सामर्थ्य इस महामन्त्र म है। वे स्वय बडी भक्ति और आस्थापूर्वक तल्लीन होकर इस मन्त्र का पाठ करते थे। उस समय पिच्छी सहित उनके हाथ नमस्कार मुद्रा मे रहते। उनके पवित्र हाथो की कोमल अँगुलियाँ, पिच्छी को ऐसी कलात्मक मृदुता के साथ साधती थी, कि लगता था कोई कलाकार, वीणा बजा रहा है, उसी के मधुर स्वर वातावरण म बिखर रहे हैं।

मन्त्रोच्चार सम्पन्न होने पर, चामुण्डराय ने एक बार पुन श्रीगुरु का चरणस्पर्श किया जननी के चरण छुए, चौक मे खडे होकर दोड्डबेट्ट की ओर शर सधान किया और महाराजा का अँगुलि निर्देश मिलते ही, प्रत्यचा को आकर्ण खीचकर, तीर छोड दिया।

दर्शक उत्सुक दृष्टियो ने बाण का पीछा किया। काललदेवी की दृष्टि तो बाण से भी आगे पहुँचकर उस पावन पाषाण का स्पर्श कर लेना चाहती थी, जिसके गर्भ मे उनके आराध्य बसे थे। परन्तु शब्द से भी तीव्र गति से जाता हुआ छोटा-सा बाण, अधिक दूर तक लोगो के

दृष्टि-पथ म बँधा नहीं रह सका। अधिकाश दर्शकों से वह ओझल हो गया।

शिल्पी जिनदेवन और सरस्वती के अतिरिक्त समूह म थोड़े से ही लोग थे जिनकी तीक्ष्ण दृष्टि उस तीव्रगामी वाण के साथ लक्ष्य तक पहुँचने म समर्थ रही।

वह लगा वाण, उधर, उस चोटी के समीप।

सबसे पहला हर्ष उद्घोष सरस्वती ने ही किया। वह पजो पर उझक उझक कर लक्ष्य के सही स्थान की ओर निर्देश कर रही थी। जिनदेवन ने, बालयति जिनचन्द्र महाराज ने और दो-चार अन्य युवा नर-नारियो ने उसका समर्थन किया। वे सब लोग हाथ फला-फैलाकर मेरे साथी के उसी उन्नत भाल की ओर इंगित कर रहे थे जिस थोडे ही समय उपरान्त बाहुबली का रूप प्राप्त होनेवाला था। इसी बीच जिस ओर तीर जाकर टकराया था वहाँ एक पीत पताका आकाश म फहरा उठी।

शिल्पी ने वाण को लक्ष्य से टकराते देखा और अविलम्ब वहाँ से उठकर वह तीव्र गति से उस दिशा म भाग चला। फहराती हुई ध्वजा उसने दूर जाकर ही देखी। झाड-झखाडो से उलझता हुआ चट्टानो और प्रस्तर-खण्डो पर उछलता-कूदता जब वह लक्ष्य स्थान पर पहुचा, तब तक वहाँ कई लोग एकत्र हो चुके थे। जिनदेवन ने पहले ही कुछ सेवक वहाँ नियुक्त कर दिये थे जो चट्टानो की ओट लेकर वहाँ छिपे हुए, आने वाले वाण की प्रतीक्षा कर रहे थे। वाण दिखाई देते ही, उसी स्थान पर पताका फहराकर सकेत देने का उन्हे आदेश था।

वाण ने जिसे अपना लक्ष्य बनाया था वह दोड्डबेट्ट का ही एक विशाल उन्नतोदर भाग था। जहाँ ये लोग खडे थे वहाँ से वह लगभग तीस हाथ ऊँचा उठता हुआ वह उसी पर्वत की चट्टान-सा लगता था। पार्श्व म और पीछे की ओर, तिमक विस्तार उसका प्रचुर था। इसी उन्नत भाग के बीचो-बीच वाण लगा था। मेरे साथी के मर्म को ही छुआ था चामुण्डराय के तीर ने।

शिल्पी ने वाण के उस चिह्न का भली भाँति अवलोकन किया। उस स्थल के परिवेश का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया और तब पीछे की ओर लौटकर वह नीचे उतरने लगा। लगभग तीन सौ पग पीछे लौटने पर वह वाण के चिह्न से प्राय चालीस हाथ नीचे खडा था। यहीं से चारो ओर दृष्टि दौडाकर, रूपकार ने परिवेश को अपनी निकष पर कसा। वह अपने मानसिक ऊहापोह में खोया वहीं एक चट्टान का सहारा लेकर बैठ गया। तभी आचार्यश्री चामुण्डराय और जिनदेवन वहाँ पहुँच गये।

आचार्य महाराज के साथ, एक बार पुनः सब लोग ऊपर बाण के चिह्न तक गये। जिनदेवन ने उस चिह्न पर केशर से स्वस्तिक का चिह्न बना दिया था। महाराज ने एक दृष्टि में ही उस पर्वत-खण्ड की क्षमता का आकलन करके कुछ संकल्प-सा किया और अपनी कल्पना शिल्पी को समझायी। रूपकार ने अब तक जो सम्भावनाएँ वहाँ देखी थीं उन्हें प्रकट किया। उसे उस शिला को ऊपर चोटी से गढ़ते हुए नीचे की ओर चलना होगा। एक स्थूल आकार प्रकट करते हुए उसे उसी के समान्तर चारों ओर दूर-दूर तक पर्वत को काटते जाना होगा। ऊर्ध्वता व निराधार इतनी उत्तुंग प्रतिमा के सबल आधार के लिए तल छन्द का कुछ तिर्यक विस्तार करना होगा, इन सभी सम्भावनाओं पर पर्याप्त विचार विमर्श करते हुए वे लौट पड़े।

मार्ग में जिनदेवन ने सहास कहा, 'संसार के सभी निर्माण, तल भाग से, नीचे की ओर से प्रारम्भ होकर ऊपर तक पहुँचते हैं, हमारी यह योजना निराली होगी जो ऊपर से प्रारम्भ होगी और नीचे जाकर सम्पन्न होगी।'

उत्तर रूपकार ने दिया 'नहीं स्वामी! गुफा मन्दिर की रचना और कूप का निर्माण, ये दो कार्य सदैव शीर्ष भाग से ही प्रारम्भ होते हैं। तुम्हारी इस प्रतिमा का निर्माण भी ऐसा ही विलक्षण कार्य होगा।



१२ शिल्पकार

शिल्पी का लवर प्रात ही जिनदेवन आचायश्री के पास उपस्थित हो गए। मूर्ति-शास्त्र का ज्ञाता वह एक अनुभवी प्रतिभासम्पन्न कलाकार था। प्रतिमा निर्माण उसका पतृक व्यवसाय था अत इस कला की अनेक विशेषताएँ उसे परम्परा से प्राप्त हुई थी। अपनी कला-साधना म व्यवसाय के ही भय स आजीवन अविवाहित रहन का उस शिल्पी का सकल्प था अत एव श्रद्धा जननी तब ही उसका परिकर या कुटुम्ब था। उसकी कला का पर्याप्त ख्याति मिल चुकी थी और स्वय उसे गग राज्य का राज्यशिल्पी होने की गरिमा प्राप्त थी।

इतना विशिष्ट कलाकार होकर भी वह शिल्पी नाम और ख्याति के प्रति अत्यन्त उदासीन था। तुमन देखा होगा कि इतनी विशाल प्रतिमा क उस कुशल तक्षक न इस पवत पर अपने नाम गोत्र के परिचय का कोई सकेत तक नही छोडा। मुझे ऐसा लगता है प्रयासी कि अपने समय का इतना प्रसिद्ध और यशस्वी वह कलाकार, इस अद्वितीय प्रतिमा के निर्माण क सन्दभ म सकल्पपूवक तुम लोगो क लिए अनाम ही रहना चाहता था। आज यही सोचकर उस महान् कलाकार का नाम प्रकट करके मैं उसका अपराधी बनना नही चाहता।

मुझ ज्ञात है कि तुम्हारा इतिहास का रथ नाम रूप का आधार लिए बिना एक डग भी चल नही पाता। तब चलो इतने के लिए उस शिल्पी का नाम रख लेते हैं रूपकार'। यह शब्द अब उसका नाम भी होगा और परिचय भी। सज्ञा भी और सवनाम भी।

नमिचद्राचाय महाराज ने अपनी कल्पना के आधार से, इस महान् अनुष्ठान के विषय मे कल से आज तक बहुत चितन किया था। उन्होंने एक स्वच्छ काष्ठ फलक पर, प्रस्तावित मूर्ति की सानुपातिक अनुकृति

तैयार कर ली थी। विन्ध्यगिरि की भौगोलिक स्थिति और वातावरण की अनुकूलता का आकलन करके, सामान्य 'पुरुषाकार से ग्यारह गुनी' ऊँचाई, उन्होंने प्रस्तावित प्रतिमा के लिए निर्धारित की थी। एक दूसरे फलक पर प्रतिमाशास्त्र में स्थापित सिद्धान्तों के अनुसार, प्रस्तावित प्रतिमा का अंग सौष्ठव भी उन्होंने निर्धारित कर दिया था। इतना ही नहीं उसके तल छन्द और ऊर्ध्व छन्द की सूक्ष्म गणना के साथ प्रतिमा की नवताल ऊंचाई को एक-सौ आठ अनुपातों में विभाजित करते हुए पूरी कलाकृति के लिए तिर्यक् और ऊर्ध्व आनुपातिक निर्देशों की सदृष्टि भी प्रस्तुत कर दी थी। इस प्रकार बाहुबली के स्वरूप की अपनी पूरी परिकल्पना आचार्यश्री ने उन दो काष्ठ फलकों पर अंकित कर दी थी।

रूपकार प्रतिमाविज्ञान में महाराज के अगाध ज्ञान का परिचय पाकर चकित रह गया। दोनों काष्ठ फलकों का अंकन देखकर, उनकी एक-एक रेखा और बिन्दु की शास्त्रोक्त व्याख्या सुनकर उसने उन श्रीगुरु की दक्षता को एक बार पुनः मन ही मन नमन किया। उसे लगा कि भले ही वह राज्यशिल्पी हो भले ही पीढ़ियों का पारम्परिक ज्ञान और अनुभव उसके पास हो परन्तु मूर्तिशास्त्र के ज्ञान में आचार्य महाराज के समक्ष उसकी स्थिति एक अबोध बालक से अधिक कुछ नहीं है।

आचार्यश्री की विराट कल्पना और सांगोपांग प्रस्तावना, एकदम अभिनव निर्दोष और पूरी तरह व्यवहार्य थी। रूपकार को विश्वास हो गया कि आचार्य महाराज के उदार परामर्श और कुशल निर्देशन में कार्य कर पायेगा तो उसे बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। निश्चित ही उसकी क्षमता का उत्कर्ष होगा। उसने नम्रतापूर्वक श्रीचरणों में निवेदन किया—

'महाराज! उपादान और उपकरणों की क्षमता भर सृजन करके दिखा दे ऐसा कलाकार तो अभी धरती पर जन्मा नहीं। हम कलाकारों की सीमा तो हमारी अपनी क्षमता तक ही होती है। मैं अभी तक्षण कला का विद्यार्थी ही हूँ। आप मूर्तिकला के मर्मज्ञ आचार्य हैं। मेरी सीमा समझते हैं। महामात्य ने इस महान् कार्य के लिए मुझे स्मरण किया, यह मुझ पर उनकी अनुकम्पा है। मैं इतनी ही विनय करता हूँ कि अपनी ओर से कार्य की निष्पत्ति में कोई प्रमाद नहीं होने दूंगा। पूरी क्षमता और एकाग्रता से आपकी कल्पना को आकार देने का प्रयास करूँगा। सफलता के लिए आशीर्वाद का आकांक्षी हूँ।'

चरणावनत रूपकार को आचार्य की वरद मुद्रा जो प्रदान कर रही थी आशीष तो वह था ही सफलता के लिए वरदान भी था।

१३ समारम्भ

जिनदवन के उत्साहपूर्ण निर्देश में इस निर्माण का प्रारम्भ हुआ। रूपकार के परामर्श पर अनेक तक्षक नियुक्त कर लिये गये। श्रमिक भी सहस्रों की संख्या में नियोजित किये गये। उनके निवास के लिए वहीं दाड्डवेट्ट की तलहटी में, अनेक विशाल पर्णशालाओं का निर्माण किया गया। अलग पाकशाला बनाकर उन सबके भोजन की व्यवस्था की गयी। सामने एक छोटा प्राकृतिक जलाशय वहाँ था ही, उसे स्वच्छ और गहरा करने का कार्य भी प्रारम्भ हो गया।

तक्षकों तथा श्रमिकों के पारिश्रमिक की व्यवस्था भाण्डारिक कर रहे थे। उन सबके लिए प्रातराश और भोजन की संयोजना स्वयं सरस्वती के हाथों में थी। सरस्वती की प्रबन्ध कुशलता के कारण पूरे कटक की भोजन व्यवस्था में कोई त्रुटि या प्रमाद ढूँढ पाना असम्भव ही था। छोटे बड़े सबके लिए चिन्तापूर्वक, नित नवीन व्यंजन और मिष्टान्न बनवाकर अत्यन्त अनुग्रह और आग्रहपूर्वक वितरण करती हुई वह ममतामयी गृहिणी, साक्षात अन्नपूर्णा-सी लगती थी।

इस महान श्रम-साध्य कार्य के लिए रूपकार का पारिश्रमिक निर्धारित करने का उपक्रम स्वयं चामुण्डराय ने किया। रूपकार का उत्तर उपयुक्त ही था—

जैसा महान् निर्माण आज तक कभी कहीं हुआ ही नहीं, ऐसे लोकोत्तर निर्माण के लिए पारिश्रमिक भी लोकोत्तर ही होना चाहिए। आज कैसे उस पारिश्रमिक का निर्धारण किया जाय। प्रतिमा का निर्माण होने पर प्रथम दर्शन के समय, उन चरणों की न्यौछावर करके, जो भी महामात्य प्रदान कर देंगे, वही होगा मेरा पारिश्रमिक।

चामुण्डराय रूपकार की लगन से प्रभावित और उसकी क्षमता

के प्रति आश्वस्त हो चुके थे। वे उसे पारिश्रमिक के रूप में उसकी आशा-कल्पना से भी अधिक द्रव्य देना चाहते थे। मन में भीतर कहीं उन्हें यह भी लग रहा था कि अपनी उदारता का उद्घोष अभी, प्रारम्भ में ही कर देना ठीक होगा। उनकी धारणा थी कि पारिश्रमिक के विपुल द्रव्य का आश्वासन, अवश्य कलाकार के मन की एकाग्रता, और हाथों को अतिरिक्त गति प्रदान करेगा।

'स्थूल तक्षण द्वारा शिला का आकार दे दो, शिल्पी। फिर अंगोपांगों की रचना के समय तुम्हारे उपकरण उस शिला से जितना भी पाषाण घोर कर पृथक करते जायेंगे, तुला पर चढ़ाकर उतना ही स्वर्ण, तुम पाते जाओगे। यही तुम्हारा पारिश्रमिक होगा। भगवान् के प्रथम दर्शन की न्यौछावर तुम्हारी सफलता का पुरस्कार होगा। यदि किसी प्रकार यह तुम्हारी अपेक्षा से न्यून है तो हम तुम्हारी आकांक्षा जानना चाहेंगे।'

चामुण्डराय के मन की उदारता और आतुरता का अद्भुत मेल था उनके प्रस्ताव में। उन्होंने जो कहा वह सचमुच कलाकार की कल्पना से बहुत अधिक था। उसने प्रसन्न मन अपनी सहमति और कृतज्ञता व्यक्त कर दी।



१४ तक्षण का शुभारम्भ

बाहुबली प्रतिमा के निर्माण की योजना बनते ही, यहाँ चामुण्डराय के अस्थायी कटक को, स्थायित्व प्राप्त होने लगा। अब प्रत्येक व्यवस्था को दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में नियोजित किया जा रहा था। पार्श्वस्थ वन प्रान्त से काष्ठ मँगाकर वस्त्रावासों को अधिक उपयोगी और सुविधापूर्ण बनाने का कार्य प्रारम्भ हो गया था। मठ में छोटा-सा जिनालय था ही, वहीं सायंकाल भक्ति, प्रवचन आदि होते थे। अब इस स्थान पर, जंगल में मंगल की अवतारणा करने के लिए महामात्य का अटूट द्रव्य-कोष पानी की तरह बहाया जा रहा था। मैंने देखा है पथिक, कि थोड़े ही समय में यह शून्य अटवी, नागरिक सुविधाओं से परिपूर्ण, जन संकुल और जीवंत हो उठी थी।

तीन चार दिवस के उपरान्त ही मूर्ति के तक्षण का कार्य प्रारम्भ होना था। इस बीच में अनेक प्रकार के लौह उपकरणों की व्यवस्था कर ली गई थी। समूचे विन्ध्य पर्वत को कंटक रहित स्वच्छ और पवित्र बनाने का अभियान चल रहा था। रूपकार का अनुरोध था कि शिला पर पण्डिताचार्य के यशस्वी करों से प्रथम टाँकी निपात कराकर तब मूर्ति का तक्षण प्रारम्भ किया जाय।

पण्डिताचार्य ने कार्यारम्भ करने के लिए वास्तु विधान के मंगल अनुष्ठान किये। अभीष्ट स्थान पर उत्तर दिशा में महाध्वज और चारों दिशाओं में अक्षय कलशों की स्थापना की। वांछित भूमि भाग को छोटी लाल पताकाओं से वेष्ठित करके उतनी पृथ्वी को अभिमंत्रित किया। कुदृष्टि निवारण के लिए दक्षिण दिशा में अति दूर एक कृष्ण पताका की स्थापना की गई। तीन दिवस तक पूजन हवन और अखण्ड कीर्तन का क्रम वहाँ चलता रहा।

कार्यारम्भ के दिन उषाकाल से ही विन्ध्यगिरि पर हलचल प्रारम्भ हो गयी। पंक्तिबद्ध खड़े हुए अनेक जनों द्वारा पवित्र जल से भरे हुए बड़े बड़े ताम्र कलश ऊपर पहुँचाकर एकत्र किये गये। पण्डिताचार्य ने उन कलशों के जल को चन्दन और केशर की सुगन्ध से मिश्रित और मन्त्र पूत किया। पुन वे कलश उस उत्तुंग शिला के शीर्ष पर ले जाये जाने लगे। इस प्रकार मन्त्रोच्चार के साथ उन एक-सौ आठ कलशों द्वारा प्रक्षालन के साथ, शिला शुद्धि की क्रिया सम्पन्न हुई। चामुण्डराय ने आचार्यश्री की वन्दना करके, पुष्प अर्पण करके पण्डिताचार्य की विनय की पाँच नवीन वस्त्रों और आभूषणों से रूपकार का सम्मान किया। पण्डिताचार्य ने स्वस्तिवाचन के साथ उसके माथे पर तिलक करके आशीर्वाद प्रदान करते हुए, कार्यारम्भ की शुभ घड़ी के योग का संकेत किया।

रूपकार ने पण्डिताचार्य को श्रीफल चढ़ाकर शिला पर पहली टाँकी लगाने का उन्हीं से अनुरोध किया। जिनदेवन के हाथ में स्वर्ण थाल था जिसमें स्वर्ण की टाँकी और हथौड़िका सजाकर रखे थे। टाँकी के अग्र भाग पर जटिल हीरक खण्ड, सूर्य की किरणों में दूर से जगमगा रहा था। पण्डिताचार्य ने मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक महामन्त्र का जाप किया। आचार्य महाराज की वन्दना की। शिला पर पुष्प-क्षेपण करके उन्होंने थाल में से वह टाँकी उठाकर शिला के मध्य में रखी और हथौड़िका का एक कोमल आघात उस पर कर दिया। टाँकी पर लगे उस आघात की ध्वनि बाहुबली की जय जयकार के घोष में विलीन होकर रह गई। शेष रह गया उस शिला पर टंकोत्कीर्ण एक छोटा-सा चिह्न। अनुपम और अमिट।

नहीं पथिक उस चिह्न के लिए इन दोनों विशेषणों में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। टाँकी के उस आघात ने उस दिन निमिषमात्र में ही एक ऐसी अनोखी पुलक भर दी मेरे भीतर, जिसने मुझ जड़ में भी मानो प्राण प्रतिष्ठा ही कर दी है। आज तक अनुप्राणित है मेरा कण कण उस अनोखी पुलक से। दीर्घकाल तक मेरे भीतर उस पुलक की अनुभूति विद्यमान रहेगी ऐसा मुझे विश्वास है।

उस चिह्न के लिए 'अनुपम' और 'अमिट' बहुत सार्थक विशेषण हैं। अनुपम वह इसलिए है कि पाषाण में तक्षण का कार्य लौह उपकरणों से ही किया जाता है। हीरक टाँकी के स्पर्श से तक्षण का मंगलाचरण हो ऐसा भाग्य इस विन्ध्यगिरि का ही था। अमिट उसे इसीलिए कहा मैंने, कि फिर रूपकार ने उसी चिह्न को बाहुबली विग्रह की नाभि मानकर

पूरी प्रतिमा का तक्षण किया। इस प्रकार उस चिह्न का परिवर्द्धित रूप तुम्हें सदा दृष्टव्य रहेगा।

तक्षण का काय बडी तीव्रगति से प्रारम्भ हुआ। रूपकार के निर्देशन मे विन्ध्यगिरि के उस उन्नतादर भाग को चारो ओर से छीलकर एक सीधे ऊँचे और मोटे स्तम्भ का-सा रूप प्रदान किया गया। हजारों-लाखो प्रस्तर-खण्डो के रूप म उस पवत को काट-काटकर सुगम और सुभग बनाया गया। तक्षको द्वारा जसे-जसे पवत की एक-एक परत विदीण करके उसको नीचा और समतल किया जाता था, वसे ही वसे उस चिह्नांकित स्थूल स्तम्भ को स्वत ऊँचाई प्राप्त होती जाती थी। काटकर निकाला गया समस्त पाषाण पाश्ववर्ती खन्दको मे एकत्र होता जा रहा था।

पवत के स्थूल तक्षण के उपरान्त चारो ओर से काष्ठाधार बाधकर उन पर काष्ठ फलक बिछाये गये, जिनके सहारे अब उस पाषाण-स्तम्भ को आकृति प्रदान करने का काय प्रारम्भ हुआ। छोटी पटलिया पर अकित बाहुबली की रेखानुकृति देख देखकर, उसके अग-सौष्ठव के प्रमाण के अनुसार उनकी माप करके, पूरे स्तम्भ को लाल रग की आडी खडी अनेक सूत्र रेखाओ से अकित किया गया। उसी अनुरूप उसमे ग्रीवा, वक्ष, भुजाए नितम्ब और पाद भाग उत्कीण कर लिये गये। जिनदेवन अपनी ही देखरेख म यह सारा काय कराते थे। चामुण्डराय और आचाय महाराज कभी-कभी आकर प्रगति का निरीक्षण करते और आवश्यक परामश देते जाते थे। इस प्रकार थोडे ही दिनो म प्रतिमा का स्थूल आकार उस शिलाखण्ड म प्रकट हो गया।



१५ प्रतिमा बाहुबली की क्यों ?

आचाय महाराज रूपकार को बाहुबली के व्यक्तित्व और जीवन वृत्त का विस्तृत परिचय कराना चाहते थे। रूपकार भी जिन लोकोत्तर महाभाग की पाषाण प्रतिमा उकेरने जा रहा था, उनकी समस्त जीवन घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक था। कभी-कभी अपने प्रवचन के बीच मे प्रसग चलाकर महाराज जब बाहुबली का गुणानुवाद प्रारम्भ कर देते, तब रूपकार बडी सावधानी से उनका एक एक शब्द ग्रहण करता था।

आचाय महाराज की नियमित ध्यान साधना म, तथा शिष्य समुदाय के पठन-पाठन म व्यवधान न हो, इस विचार से चामुण्डराय ने रूपकार को बाहुबली चरित्र सुनाने का काय आचार्यश्री की आज्ञा से, अपने पर ले लिया। प्रतिदिन सन्ध्यावादन सामायिक के उपरान्त अपने पट मण्डप म उनकी धम गोष्ठी होती थी। गोष्ठी मे स्वय चामुण्डराय अनेक पुराणा और कथाओं के आधार पर भगवान् आदिनाथ, चक्रवर्ती भरत और योगीश्वर बाहुबली के चरित्र का वणन करते थे। रूपकार से चर्चा के समय भी वे प्राय उन्ही महायोगी का प्रसग चलाते रहते थे।

बाहुबली के असामान्य जीवन प्रसग मेरे लिए भी सवथा नवीन और आकषक थे। जबसे चामुण्डराय मेरे अतिथि हुए तभी से यह नाम मैंने सुना था। यथाथ तो यह है पथिक कि जब मैंने सुना कि विन्ध्यगिरि पर बाहुबली की प्रतिमा उत्कीण की जायगी तब से ही यह प्रश्न बार बार मेरे भीतर भी टकराता था कि बाहुबली की प्रतिमा बनाने का औचित्य क्या है ? क्या विशेषता थी उनके जीवन म कि पूजन अचना के के लिए तीर्थंकरो के ही समकक्ष, उनकी प्रतिमा बनाकर स्थापित की जावे।

कभी-कभी मुझे लगता कि क्या इसलिए बाहुबली पूज्य माने गये कि वे आदि देव के, बहुत बड़े पिता के, पुत्र थे ? या उन्हें इसलिए अर्चना का पात्र समझा गया कि उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा का बहाना लेकर, चक्रवर्ती का मान भंग किया ? या इसलिए कि पारिवारिक कलह का एक अनोखा कीर्तिमान उनके द्वारा भारतभूमि पर स्थापित किया गया ? अथवा क्या यह तथ्य उन्हें पूज्य बना गया कि उन्होंने अपनी राजनतिक स्वायत्तता के लिए, अपने पतक अधिकार की स्वाधीनता की रक्षा के लिए, युद्ध की चुनौती को स्वीकार करके सार्वभौमिकता और स्वतन्त्रता का इस धरती पर पहला बिगुल फूंका ? मैं भी समझना चाहता था कि क्या थीं वे चारित्रिक विशेषताएँ, जो बाहुबली को ऐसा लोकोत्तर व्यक्तित्व प्रदान करके पूज्य बना गयीं।

अपने भीतर उठने इन प्रश्नों के समाधान के लिए मुझे अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। इन समस्त प्रश्नों को एक दिन शब्दों में बाँध कर प्रस्तुत कर दिया रूपकार ने, और उनका समाधान दिया स्वयं शास्त्रज्ञ चामुण्डराय ने। फिर तो अनेक सान्ध्य गोष्ठियों में इसी पुण्य-प्रकरण पर महामात्य का प्रवचन होता रहा।

चामुण्डराय का आगम ज्ञान अगाध था। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों का उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से अवलोकन किया था। 'त्रिषष्ठि शलाका-पुराण' या 'चामुण्डराय-पुराण' नाम से उन्होंने स्वयं कन्नड भाषा में एक कथा ग्रन्थ की रचना, अभी थोड़े ही दिनों पूर्व की थी। जैन इतिहास के महापुरुषों की जीवन-गाथा वे बड़े ही सुन्दर और मनोहारी ढंग से सुनाते थे। प्रवचन करते समय वक्ता और श्रोता दोनों ही उस कथानक में तल्लीन होकर भाव विभोर हो जाते थे।



१६ कालचक्र का परिणमन

इस भरत-क्षेत्र के लिए अनादि-अनन्त कालचक्र के प्रवर्तन को भगवान् सर्वज्ञ ने अपने ज्ञान में ऐसा देखा है कि इसके छह कालखण्ड हैं
१ सुखमा-सुखमा, २ सुखमा ३ सुखमा-दुखमा, ४ दुखमा सुखमा, ५ दुखमा, और ६ दुखमा-दुखमा।

इसी क्रम से इन्हे पहला, दूसरा, तीसरा चौथा, पाँचवाँ और छठा काल भी कहा जाता है। इन कालखण्डो के प्रवर्तन में मनुष्यो के शरीर की अवगाहना, आयु धन वैभव, सुख शान्ति आदि की क्रमश अवनति या ह्रास होता जाता है। आकुलताएँ, सक्लेश, वैर, विरोध, मान और दुख क्रमश बढते जाते हैं।

महाप्रलय

छठे काल के व्यतीत हो जाने पर महाप्रलय में इस सृष्टि का लगभग विनाश हो जाता है। महावेग से चलनेवाली उत्पात पवन, सृष्टि की सारी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देती है। सात-सात दिवस तक आँधी पानी क्षार विष अग्नि धूल और धुएँ के प्रकोप से महानाश का वातावरण प्रकट हो जाता है। तब श्रावण मास के प्रथम दिवस से पृथ्वी पर सात-सात दिन तक जल, दुग्ध, घृत, अमिय एव रस आदि सात पदार्थों की वर्षा होती है। फिर भाद्र मास की शुक्ल पचमी से, यह पृथ्वी नवीन ऊष्मा का अनुभव करती है। पर्वत, कन्दराओ और नदी घाटियो में बचे मनुष्य और पशु बाहर निकल आते हैं। विनष्ट मर्यादाओ की पुन स्थापना होती है। सृष्टि के नव सृजन का यह प्रारम्भ, पुन आनेवाले छठे काल का मगलाचरण है। अब धीरे धीरे उत्कर्ष काल का उदय होता है, और छठे के उपरान्त पाँचवाँ चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला काल

प्रवर्तित होने लगता है। इसी प्रकार पहले काल के उपरान्त उसी क्रम से पुन पहला, फिर दूसरा तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा काल आता है।

प्रथम से छठे तक अवनति की ओर चलनेवाली काल चक्र की गति को 'अवसर्पिणी काल' कहते हैं। छठे से पहले की ओर उसके उत्कर्षगामी प्रवाह को 'उत्सर्पिणी काल' कहा गया है।

भोगभूमि की सुविधाएँ

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की ऐसी यह शृखला, इस जगत म अनादि-अनन्त प्रवहमान है। इनमें सर्वत्र पहला दूसरा और तीसरा काल भोगभूमि के वातावरण से व्याप्त रहता है। तब जीवन में निए कोई सघर्ष आनेवाले कल की कोई चिन्ता और सतति का कोई निर्वाह इन कालखण्डो म किसी को भी करना नही पडता। एकमात्र युगल सतति को जन्म देते ही माता पिता का देहावसान हो जाता है। जनसख्या स्वत सीमित रहती है। उस व्यवस्था म दस प्रकार के कल्प वृक्षो से मानव की समस्त आवश्यकताएँ इच्छा करने मात्र से पूरी हो जाती हैं। प्रकाश जल वस्त्राभरण आभूषण, भोजन-पान, सभी कुछ यथा समय वाछित मात्रा मे इन कल्पवृक्षो से सबको प्राप्त हो जाता है। प्राप्ति के लिए सघर्ष और सग्रह की कोई चिन्ता किसी को करनी ही नही पडती। रोग शोक और अकाल-मरण कही सुनाई नही देता।

कर्मभूमि के अभिशाप

अवसर्पिणी के प्रवाह मे चौथा काल प्रारम्भ होते ही इस पृथ्वी पर 'कर्मभूमि' का उदय होता है। उस समय कल्पवृक्षो से वस्तुओ की उपलब्धि बाधित हो जाती है। अब मनुष्यो को कर्म के सहारे जीवन निर्वाह करना पडता है। उन्हे 'असि' की सहायता से अपनी और अपने परिकर की रक्षा करनी पडती है। मसि के द्वारा व ज्ञान विज्ञान और ललित कलाओ की साधना करते हैं। कृषि उनकी जीविका का आधार बनती है और वाणिज्य' के द्वारा व अर्जित वस्तुओ का आवश्यकतानुसार आदान प्रदान और सग्रह करने लगते हैं। विद्या का अभ्यास करके वे छन्द व्याकरण, इतिवृत्त आदि के सहारे पठन-पाठन, शिक्षण आदि का अभ्यास करते हैं तथा शिल्प की साधना मे मूर्ति चित्र भवन, देवालय आदि का निर्माण करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों मे मानव-समाज विभाजित हो जाता है। परिग्रह की हीनाधिकता

के आधार पर भी उनमे वग भेद प्रारम्भ हो जाते हैं।

इस प्रकार सारा मानव-समाज धीरे धीरे एक आन्तरिक असन्तुलन की आंच मे तपने लगता है। मनुष्यो की आवश्यकताएँ बढने लगती हैं। सन्तान के पालन का उत्तरदायित्व सिर पर आ जाने से, उनमे वस्तुओ के सग्रह की मनोवृत्ति प्रबल हो उठती है। परिग्रह एकत्र होते ही, सामाजिक अनुशासन को तोडनेवाली अन्य असत् प्रवृत्तियाँ समाज म पनपने लगती हैं। जीवन के सघर्ष उत्तरोत्तर बढने लगते है। धमनीति के स्थान पर 'राजनीति' की प्रतिष्ठा होने लगती है समय का प्रभाव सतयुग के शान्त निर्द्वन्द वातावरण को धीरे धीरे कलियुग की आकुलताओ और सघर्षो म परिवर्तित करने लगता है।

कलियुग के सारे अभिशाप चौथे काल मे एक सीमा तक ही प्रसार पाते हैं। धमसम्मत समाज-व्यवस्था का अकुश उन्हें एक मर्यादा के भीतर ही सचरित करता रहता है, परन्तु चौथे काल की समाप्ति पर, पचम काल का प्रारम्भ होते ही ये सारी मर्यादाएँ भग होने लगती हैं। यही से कलियुग का अनियन्त्रित ताण्डव धरती पर प्रारम्भ होता है। हिंसा, झूठ चोरी, व्यभिचार और अनावश्यक संग्रह की भावना, मनुष्य के विवेक को दूषित कर देती है। समाज की सुख शान्ति विशृखलित होकर अशान्ति और आकुलता म परिणत हो जाती है। छठे काल म स्थिति और भी भयावह हो जाती है। इसी समय अवषण, अतिवषण, दुर्भिक्ष, बर, महामारी, युद्ध और धार्मिक तथा राजनैतिक विकृतियो का वातावरण मानव-समाज को दहिक, दविक और भौतिक इन तीनो प्रकार के तापो से सक्लेशित करता है।

पाँचवाँ, छठा तथा पुन छठा फिर पाँचवाँ ऐसे इक्कीस इक्कीस सहस्र वष की अवधिवाले ये चार दुखद कालखण्ड, चौरासी सहस्र वष म व्यतीत होते हैं तब पुन चौथा काल प्रवर्तित होता है। यही कालचक्र की गति है।

अपवाद-काल

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की ऐसी लम्बी शृखला व्यतीत हो जाने पर कभी-कभी एक अशुभ और मर्यादाविहीन अवसर्पिणी काल का आगमन होता है। इस काल मे अनेक मर्यादाएँ स्वत भग हो जाती हैं। मर्यादाविहीन इस काल को 'हुण्डावसर्पिणी' काल कहा गया है। हमारा यह वतमान काल, ऐसे ही हुण्डावसर्पिणी का पाँचवाँ काल है। इसके केवल पच्चीस-सौ वष व्यतीत हुए हैं। साढे अठारह सहस्र वष अभी शेष हैं।

महामात्य ने विस्तारपूर्वक उस दिन कालचक्र की व्यवस्था समझाते हुए बताया कि सदैव चौथे काल में ही कर्मभूमि की वे उत्तम सम्भावनाएँ उपस्थित होती हैं जब मनुष्य उत्तम-कर्मों से अपने जीवन का उत्कर्ष करके आत्मा का कल्याण कर सकता है। मनुष्य, देव, नारकी और पशु इन चारों गतियों में से केवल मनुष्य गति, और छह कालों में से केवल चौथा काल ही ऐसा सुयोग देते हैं कि तब यदि जीव प्रयत्न करे, तो श्रद्धान ज्ञान और संयम की अपनी साधना के सहारे जन्म-मरण के अनादि चक्र से मुक्त हो सकता है। नर को नारायण बनने का यही एक अवसर होता है। चारों गतियों के परिभ्रमण से परे, मोक्ष का मार्ग, इसी चौथे काल में इस भारत भूमि पर प्रस्तुत होता है।

चौथे काल में ही प्रारम्भ से अन्त तक, थोड़े-थोड़े अन्तराल पर चौबीस तीर्थंकर इस धरती पर अवतरित होते हैं। उनके द्वारा संसार में गृहस्थों और यतियों के योग्य धर्म का प्रचार और प्रसार होता है। उनका चिन्तन और जीवन पर उनके प्रयोग, लोक के लिए कल्याणकारी होते हैं। वे वीतरागी, हितोपदेशी सर्वदृष्टा अर्हन्त, प्राणीमात्र के कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। इन्हीं चौबीस तीर्थंकरों की समस्त परिग्रह से रहित वस्त्राभरण विहीन, यथाजात प्रतिमाएँ बनाकर सदैव उनकी पूजा-अर्चना करने की परम्परा है। अभी-अभी जो चौथा काल व्यतीत हुआ है आदिनाथ ऋषभदेव उस काल के प्रथम, तथा निर्ग्रन्थ नाथपुत्र महावीर अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर थे। इन चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त चौथे काल की दीर्घ समयावधि में लाखों-करोड़ों मनुष्य, घर कुटुम्ब से विरागी होकर मुनि बनते हैं और तपश्चरण द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं, परन्तु उनकी प्रतिमाएँ स्थापित करने की परम्परा नहीं है।



१७ बाहुबली चरित्र पूर्व कथा

विविध पुराणों और कथाशास्त्रों का अवलोकन करके महामात्य ने बाहुबली के पुण्य चरित्र का अध्ययन किया था। उसी आधार पर अपनी काव्य-गोष्ठी में उन्होंने अनेक दिनों तक उनका गुण-गान किया। महामात्य की वर्णन शैली मनोहर और सहज ग्राह्य होती थी। उनके मुख से पुराण-पुरुषों की जीवन घटनाएँ सुनते समय श्रोता उन पात्रों के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगते थे। हर्ष और दुःख के विशेष प्रसंगों पर उनके नेत्रों से अश्रुपात होने लगता था। वैराग्य का वर्णन उनके मन को विराग भावना से अभिभूत कर देता था।

रूपधार को बाहुबली के जीवन-वृत्त का परिचय कराने के लिए महामात्य ने कथा का प्रारम्भ इस प्रकार किया—

वर्तमान काल का तृतीय अंग, तीसरा काल, समाप्ति की कगार तक पहुँच गया था। चौथे काल की रीति-नीति के अनुकूल धीरे धीरे स्वतः सारे परिणमन होने लगे थे। भोगभूमि का वातावरण कर्मभूमि के रूप में परिवर्तित होना प्रारम्भ हो गया था।

मणि किरणों के अनवरत ज्योतिपुंज की अभ्यस्त धरा, दिवस और रात्रि के चक्र से प्रकाशित और तमावृत होने लगी। रवि, शशि और तारागण ही अब उसके प्रकाश स्रोत थे। एक दिन जब सूर्य की दाहक किरणों ने प्रथम बार भूमण्डल को तप्त किया, तब प्रजाजन पीड़ित और आतंकित हो उठे। रात्रि को चन्द्रमा की किरणों ने उन्हें सांत्वना देकर समाधान प्रदान किया। अनभ्र गगन में मेघों का संचरण होने लगा। मेघमाला के विविध वर्णों और विचित्र आकारों ने अनन्त के विराट शून्य की रिक्तता को भर दिया। शीत और ताप के इस क्रमिक अनुवर्तन ने ही धरा-गर्भ को उस प्राणवती ऊष्मा का दान किया, जिसे

पाकर धरती की सृजनशील उर्वरता अनन्तगुनी होकर, जाग्रत हो गयी। धरती पर बरसती हुई जलधार से सारी सृष्टि जीवन्त और प्रसव धर्मा हो उठी। अब उसपर फलो, पुष्पो, धान्यो और औषधियो के अनन्त अकुर, पग-पग पर फूटने लगे।

युग के इस सधिकाल म क्रमश बडे-बडे प्राकृतिक परिवतन होते रहे। वन्यपशु, हिस्र और भयानक हो उठे। मनुष्य ने उन्हे बधन, दण्ड अकुश और वल्गा के सहारे अनुशासित करके भय का निवारण किया। अनेको को उसने अपना आज्ञाकारी बनाकर अपनी सेवा म नियोजित कर लिया। धीरे धीरे कल्प-वृक्षो की फलदान शक्ति क्षीण होती गई और एक दिन वे विलुप्त ही हो गये।

अब तक तो प्रत्येक दम्पती अपने जीवन के अन्तिम दिनो म एक युगल सतति को जन्म देकर ही सजन का दायित्व पूरा कर लेते थे। अब स्वत उस प्रक्रिया म विविधता का समावेश हुआ। अब माता पिता को अनेक सन्तानो का जन्मदाता बनना पडा। उनके लालन-पालन की, सयोजना भी उन्हे स्वय करनी पडी। माता पिता की रुग्ण, असक्त और अन्त-समय की दारुण स्थिति म सन्तान की सेवा भी आवश्यक लगने लगी। मनुष्य को अपने इन नवीन दायित्वो का निर्वाह करने के लिए पदार्थों के सग्रह की आवश्यकता प्रतीत हुई, फिर उस सग्रह की सुरक्षा के उपाय भी उसे ढूढना पड।

जीवन पद्धति म इस सक्रमण से मानव समाज को कुछ सवथा नवीन अनुभव हुए। भय आतक और असुरक्षा के अभिशाप पहली बार उसने भोग। परिग्रह आया तब उसके साथ ही उसके सकलन के लिए और उसकी रक्षा के लिए विवाद और सघष प्रारम्भ हुए। हिंसा, झूठ और चोरी की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। अधिक सतति के जन्म के कारण तथा स्त्री और पुरुष की पृथक उत्पत्ति और असमय मृत्यु के कारण अनेक स्त्री पुरुषो के जीवन म एक से अधिक जीवन सगी आने लगे। इसके फलस्वरूप मनुष्य के दाम्पत्य म कुशील तथा व्यभिचार का समावेश हुआ। उसी समय समाज की सामान्य व्यवस्था के लिए, और मर्यादा की रक्षा के लिए कुलो की स्थापना करके, लोगो ने स्वत अपने लिए शासन व्यवस्था का आविष्कार किया।

कुलकर व्यवस्था

देश-काल के परिवतन एक साथ नही आये। धीरे धीरे एक दीघ समयावधि म ये प्रकट हुए। अनेक पीढियो के सक्रान्ति-काल के पश्चात

भोगप्रधान पद्धति का समापन होकर, कर्मप्रधान जीवन का यह रूप प्रकट हुआ। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में समय-समय पर चौदह मनु या कुलकर अवतरित हुए, जिन्होंने मानव-समाज को जीवनयापन के लिए उपयुक्त मार्गदर्शन दिया। उनकी नवीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करके प्राकृतिक विपत्तियों से उन्हें अभय दिया।

अयोध्या के शासक नाभिराय चौदहवें और अन्तिम कुलकर हुए। उन्होंने प्रजा को उपयोगी और अनुपयोगी वनस्पति का विवेक देकर पेड़ पौधों के सहारे विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने का मार्ग बतलाया। सहज जीवनयापन के और भी अनेक परामर्श नाभिराय ने प्रजा को प्रदान किये। उनके पश्चात् व्यवस्था का संचालन उनके पुत्र ऋषभदेव के हाथों में आया। यही ऋषभदेव जनों के चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हुए। विष्णु के चौबीस अवतारों में इन्हें आठवां अवतार कहा गया है। यही ऋषभदेव भारत के यशस्वी आदि सम्राट योगिराज भरत के पिता थे। आदिनाथ उन्हीं का दूसरा नाम था।

ऋषभदेव ने मानव-सभ्यता को सवारने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने नगर, ग्राम और पुर बसाये। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य विद्या और शिल्प, ये छह प्रकार के कौशल सिखलाकर प्रजा को साधक और उत्पादक श्रम का महत्व समझाया। जीवन में उसकी अनिवार्यता का प्रथम पाठ पढाया। अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को शिक्षित करने के बहाने, उन्होंने लिपि और अंक विद्या का परिष्कार किया। शिक्षा और कला प्रधान कार्यकलापों के माध्यम से, मानव समाज में नारियों के, समान महत्व का यह प्रथम उद्घोष था। अपने पुत्रों को ऋषभदेव ने राजनीति, युद्धनीति और धर्मनीति, तीनों की रक्षा करते हुए स्वतन्त्र और निर्भीक जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान की। अत्यन्त वत्सलता के साथ प्रजा का पालन पोषण करते हुए ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक अयोध्या का राज्य किया।

आदिनाथ का वैराग्य

एक बार राज्यसभा में भगवान ऋषभदेव की वर्षगांठ का उत्सव मनाया जा रहा था। तरह-तरह के आमोद प्रमोद उस दिन वहाँ आयोजित किये गये थे। प्रजाजन हर्ष और उत्साह से भरे हुए उस उत्सव में संलग्न थे, तभी देवराज इन्द्र ने नीलांजना अप्सरा को नृत्य के लिए सभा में प्रस्तुत किया। उत्तम वस्त्रों और दिव्य अलंकारों से सज्जित उस देवांगना ने ऋषभदेव के समक्ष, सर्वथा अलौ

त्रिक और मनोहारी नृत्य उपस्थित किया। बिजली की चमक के समान चचल वह अप्सरा, अपने सयत शरीर-सचालन के द्वारा, ललित भाव भगिमाओ का प्रदर्शन करती हुई बेसुध-सी होकर नृत्य कर रही थी, तभी उसकी आयु पूर्ण हो गयी। नृत्य की भावमुद्रा पूर्ण होने के पूर्व ही उसका शरीर विलीन हो गया। देवराज इन्द्र, इस घटना के प्रति पूर्व से सावधान थे। उन्होने उसी निमिष उस नृत्य के लिए दूसरी दिव्यागना को उपस्थित कर दिया। नूतन दिव्यागना ने पलक झपकते ही नीलाजना के उन्ही वस्त्रालकारो मे, उसी गति से नृत्य के उस लय-ताल को निरवाध रूप से साध लिया। विक्रिया शरीर के स्वामी देवो के लिए यह बहुत सामान्य प्रक्रिया थी। मरण के उपरान्त उनका शरीर अदृश्य होकर विलीन हो जाता है और उसी क्षण दूसरा देव या देवी उसी रूप मे उनके स्थान की पूर्ति कर देता है। यही कारण है कि देवताओ के उत्सव और भोग कभी बाधित नही होते। उनके जीवन मे कही रस भग नही होता। उनके स्थान एक पल भी रिक्त नही रहते। इसीलिए जन्म मरण करते हुए भी वे 'अमर' कहलाते हैं।

नर्तकी नीलाजना के देहपात की इस घटना को सामान्य दर्शको की नृत्य के मोहक पाश मे बधी हुई आखें देख ही नही पायी। उन्हे इस परिवर्तन का आभास भी नही हुआ। ऋषभदेव को क्षण के हजारवे अश के लिए इस रस भग का बोध हुआ। तीर्थंकर तो जन्म से ही अवधि ज्ञान' के स्वामी होते हैं। उस ज्ञान की सहायता से विचार करते ही वास्तविकता उनके सामने प्रत्यक्ष हो गयी। जन्म दिन के महोत्सव को गरिमा प्रदान करती हुई नीलाजना का मरण, और मरण की विभीषिका को छिपाते हुए उसी क्षण, वही दूसरी नीलाजना का जन्म भले ही देवताओं के लिए सामान्य घटना रही हो भले ही सामान्य जनो को उसका बोध न हुआ हो, परन्तु ऋषभदेव को उस घटना ने भीतर तक झकझोर दिया। जीवन की क्षणभगुरता और मरण की अनिवार्यता उनके चिन्तन मे विद्युतरेखा-सी कौंध गयी। ऋषभदेव विचारने लगे—धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ की साधना करते-करते जीवन का अधिकाश भाग समाप्त हो गया। समाज को भी उन्ही पुरुषार्थो की साधना का मार्ग आज तक दिखाया। 'स्व' और 'पर' का यथार्थ कल्याण जिसकी साधना से प्राप्त होता है उस मोक्ष पुरुषार्थ के प्रति आज तक कोई प्रयत्न नही किया। प्रजा को भी अब तक उस पथ से परिचित नही कराया। जीवन का खेल तो ऐसा ही क्षणभगुर खेल है। कौन-सा क्षण, उसका अन्तिम क्षण होकर प्रकट हो जायेगा, कहना कठिन है। पर्याय



वरिष्ठ बाहुवली को युवराज घोषित करके पोदनपुर का स्वतन्त्र राज्य प्रदान किया। शेष पुत्रों को छोटे छोटे राज्य बाट दिये। इस प्रकार निममत्व भाव से पुरान वस्त्रों की तरह उस विशाल राज्यलक्ष्मी का त्याग करके उन्होंने आत्मकल्याण के लिए वन गमन किया। सिद्धार्थ वन की अटवी में जाकर उन्होंने पच मुष्ठिया द्वारा अपने सिर के केश, घास की तरह उपाट कर फेंक दिये। समस्त वस्त्राभूषण त्याग दिये। सिद्धों को नमस्कार करते हुए अहिंसा, सत्य, अनत, शील और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों की उत्कृष्ट मर्यादा धारण करके, वे परम दिगम्बर योगिराज, वन के उस नीरव एकान्त में समाधि का सहारा लेकर आत्मशोध में सलग्न हो गये। भरत बाहुबली आदि समस्त पुत्रों ने प्रजाजनों सहित उनका पूजन किया।

इस प्रकार महापुरुष ऋषभदेव ने एक ओर जहा विषम परिस्थितियों से जूझते हुए सदाचारपूर्ण, मर्यादित जीवन पद्धति का आदर्श, लोक के समक्ष प्रस्तुत किया, वही उन्होंने इन्द्रिय और मन पर अकुश लगाकर, रागद्वेष की भावनाओं का उन्मूलन किया। विषय-कषायों पर विजय प्राप्त करके सयम और त्याग का श्रेष्ठ उदाहरण जग के समक्ष रखा।

ससार में जीवन पद्धति के वे आदि प्रणेता मोक्षमार्ग के भी आदि प्रणेता बने। अपने स्वय के स्वाधीन प्रयत्नों प्रयोगों से आत्मा को परमात्मा बनाने का रहस्य नर से नारायण बनने की प्रक्रिया, उन्होंने अपने जीवन में उतारकर स्वय उसका आदर्श मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। योग विद्या के साथ निस्पृह मौन साधना अगीकार करके वे योगेश्वर कठोर तपश्चरण में लीन हो गये।

योग धारण करने के उपरान्त छह मास तक भगवान् आदिनाथ ने एक ही आसन से अखण्ड ध्यान किया। उनका शरीर कृश हो गया। सिर पर दीर्घ जटाएँ झूलने लगी। छह मास के पश्चात् जब उनकी ध्यान-समाधि टूटी तब तक उनका शरीर लता गुल्मों से गुथा हुआ अनेक जीव जन्तुओं का विश्राम स्थल बन चुका था। अयत्र विहार करके उन्होंने पुन केशलोच किया और अपनी नियमित साधना में से दो घडी का समय निकाल कर वे भिक्षाटन के लिए ग्रामों नगरों तक जाने लगे। परन्तु भक्तिपूर्वक आहार देने के विधि विधान का लोगों को ज्ञान नही होने के कारण, छह-सात मास तक उन्हें आहार उपलब्ध नही हो सका। एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक और एक नगर से दूसरे नगर तक, भगवान् को आता हुआ देखकर लोग वस्त्र, आभरण अलकार, मणि-मुक्ता, फल,

पुष्प, दुग्ध और विद्य, सब कुछ उनके समक्ष अर्पित करते थे, परन्तु नौ प्रकार की भक्तिपूर्वक उन्हें पड़गाह कर आहार देने की विधि कोई नहीं जानता था, अतः भगवान् जैसे आते थे, बिना आहार ग्रहण किए वैसे ही वन को लौट जाते थे। भरत चिन्तित और व्यग्र थे परन्तु कोई उपाय बन नहीं रहा था।

एक दिन हस्तिनापुर के युवराज श्रेयांस को जातिस्मरण नाम के विशिष्ट ज्ञान द्वारा दिगम्बर साधु को आहार विधि का ज्ञान हुआ। उन्होंने अपने उपवन में वटवृक्ष के तले, चर्या के लिए विहार करते हुए भगवान् का आह्वान किया। उस समय श्रेयांसकुमार श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, उत्साह, क्षमा और त्याग, दाता के इन सप्त गुणों से युक्त थे। भगवान् आदिनाथ को आहार कराने के अभिप्राय से उन्होंने आदरपूर्वक उनका आवाहन, आसन, चरणप्रक्षालन, पूजन और नमस्कार करते हुए मन, वचन काय तथा आहार की शुद्धि रूप नवधा भक्ति की आराधना की थी। उन्होंने भगवान् के लिए त्रिबार नमोस्तु करते हुए उनकी प्रदक्षिणा करके प्रासुक द्रव्य से उनका पूजन किया और तब आदरपूर्वक उन्हें इक्षुरस का पान कराया। भगवान् ने खड़े ही खड़े अपने हाथों की अंजली में लेकर वह रस और थोड़ा-सा जल ग्रहण किया। फिर वे वन की ओर लौट गये।

भगवान् के आहार के निमित्त से श्रेयांस राजा अक्षय निधियों के स्वामी हुए। वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की वह तृतीया तिथि, तभी से 'अक्षय तृतीया' कहलायी। दान की महिमा ऐसी अपरम्पार है कि आदि दाता श्रेयांस राजा की मृण्मय पुतलियाँ बनाकर, अक्षय तृतीया के दिन वटवृक्ष के नीचे उनकी पूजा, आज भी मनोवांछित फल का प्रदाता माना जाता है। कुंवारी कन्याएँ इष्ट मनोरथ की पूर्ति की आकांक्षा से आज भी यह उत्सव मनाती हैं।

ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक संयम तप और योग की एकनिष्ठ साधना के उपरान्त केवलज्ञान प्राप्त किया। कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् वे सर्वज्ञ, हितोपदेशी, वीतरागी भगवान्, देश-देशान्तरों में उस अनुभूत आत्मधर्म का उपदेश करते हुए अन्त में कैलाश पर्वत के शिखर पर शरीर त्यागकर मोक्ष गये। जन्म मरण के संसारचक्र से वे सदा के लिए मुक्त हो गये। निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त उन्हें पूर्ण-परमात्मा कहा गया।

१८ भरत की दिग्विजय

ऋषभदेव के दीक्षित हो जाने के उपरान्त भरत ने अत्यन्त निस्पृहता पूर्वक अयोध्या पर शासन किया। उनके शासन म अनीति, अनाचार, पक्षपात और अव्यवस्था का नाम भी नही सुना जाता था। दूर-दूर तक उनका यश व्याप्त हो रहा था। वे प्रजावत्सल और प्रजापालक राजर्षि भरत' के नाम से विख्यात हुए। कालान्तर म उन्ही के यशस्वी नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।

एक दिन भरत महाराज को तीन शुभ सवाद एक साथ प्राप्त हुए। वनमाली ने सभा म प्रवेश करके सभी ऋतुओ के फल-फूल एक साथ उनके समक्ष अर्पित किये, फिर भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान प्रकट होने की सूचना दी। उसने बताया कि मनुष्यो और देवों ने भगवान् की कैवल्य प्राप्ति का उत्सव आयोजित किया है। पूरी अटवी नाना प्रकार से सजाई गयी है। प्रकृति भी भगवान की तपस्या सफल होने का हर्ष उल्लास मना रही है। वन म सुरभित समीर प्रवहमान है। समस्त वृक्ष और पौधे एक साथ पल्लवित और पुष्पित हो उठे हैं।

सवाद सुनते ही महाराज का मन, भगवान् के चरणो मे श्रद्धा और भक्ति से भर उठा। सिंहासन से उतरकर वन की दिशा म सात पग आगे बढकर उन्होंने अर्हन्त ऋषभदेव को परोक्ष नमन किया। लौटकर वे अभी सिंहासन पर बठे ही थे कि आयुधशाला के प्रभारी ने उपस्थित होकर आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट होने की सूचना दी। यह भरत महाराज के चक्रवर्तित्व का मगलाचरण था। उनका हर्ष दोगुना हो उठा। दिव्यचक्र के सत्कार के विषय मे वे अभी विचार ही कर रहे थे तभी अन्त पुर का चर पुत्रोत्पत्ति का सुखद समाचार लेकर सेवा म उपस्थित हुआ। इस सवाद ने उनके हर्ष को कई गुना कर दिया।

महाराज भरत विचारने लगे कि चक्र की उत्पत्ति और पुत्र की प्राप्ति, ये सब पुण्य के प्रभाव से प्राप्त होनेवाले सांसारिक सुख हैं। धर्म की साधना के मार्ग में ऐसा पुण्य अनचाहे मिलता ही है। पिताश्री को तीर्थंकर का पद प्राप्त हुआ है, अर्हन्त बनकर अब उनमें तीन लोक के जीवों को सन्मार्ग दिखाने की क्षमता प्रकट हुई है, यही आज का सबसे बड़ा मंगल संवाद है। उन्होंने सर्व प्रथम केवलज्ञानी भगवान् ऋषभदेव की वन्दना और केवलज्ञान की पूजा करने का संकल्प किया। ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहनों और प्रजाजनों के साथ, जब महाराज भरत ऋषभदेव के समवसरण में उपस्थित हुए, तब तक वहाँ हस्तिनापुर से राजा सोमप्रभ और युवराज श्रेयांस, पोदनपुर से युवराज बाहुबली, पुरिमताल नगर से उनके अनुज वृषभसेन आदि अनेक राजा एकत्रित हो चुके थे। सबने बड़े हर्ष और भक्तिपूर्वक भगवान् का पूजन किया। एक सौ आठ नामों से युगादिदेव का गुणानुवाद करते हुए भरत अयोध्या लौटे।

दूसरे ही दिन आयुधशाला में जाकर भरत ने चक्ररत्न का स्वागत अनुष्ठान किया। उनके अतिशय पुण्य के उदय से चक्रवर्ती का वैभव उनके यहाँ प्रकट हो रहा था। चक्ररत्न के साथ ही उनके परिकर में नव निधियाँ और चौदह रत्न, एक-एक करके प्रकट हो गये थे। इन दिव्य उपकरणों का स्वामी बनकर, अब छह खण्ड पृथ्वी पर अपना निष्कण्टक साम्राज्य स्थापित करना, चक्रेश की अनिवार्य नियति थी।

कुछ ही दिनों में चक्रवर्तित्व की उद्घोषणा के लिए भरत का दिग्विजय अभियान प्रारम्भ हुआ। सहस्र यक्षों से रक्षित, सहस्र आरोंवाला उनका दिव्य चक्र, सेना के आगे-आगे चलता था। अयोध्या की चतुरंगिणी सेना उस चक्र की अनुगामिनी होकर भरत की अजेय शक्ति का डंका पीटती हुई, देश-देशान्तरों में भ्रमण कर रही थी। प्रायः प्रत्येक नरेश अपने राज्य की सीमा पर उनकी अगवानी करते, उनका अनुशासन शिरोधार्य करते, और अपने राज्य में सम्मानपूर्वक उनकी विजय-यात्रा को संचालित करते थे। जो नरपति भरत का प्रतिरोध करने का संकल्प करते थे, चक्रेश की सेना की विराटता और उनके दिव्य अस्त्रों का तेज दृष्टि में आते ही उनके विरोध संकल्प टूट जाते थे।

दिग्विजय के इस अभियान में भरत की इच्छा-आकांक्षा का कोई महत्व नहीं था। चक्रवर्ती राजा के भाग्य से बंधा हुआ यह एक अनिवार्य नियोग था, जो उन्हें पूरा करना ही था। वह विजय-यात्रा भरत की तृष्णा से प्रेरित नहीं, उनकी नियति का सहज परिणाम मात्र थी। छह खण्ड पृथ्वी

पर उत्कृष्ट प्रभुता स्थापित हो जाय, एक भी प्रजा-पीडक उच्छृंखल नरेश शेष न रहे सारे शासक राजा महाराजा उस एक सम्राट की अधीनता मानकर अनुशासित हों, यही चक्रवर्ती की प्रभुता थी जिसे प्राप्त करके साम्राज्य की महत्ता स्थापित करना चक्रवर्ती का कर्तव्य होता है। अब भरत राजा का यही दायित्व था।

भरत के चक्र की अनुगामिनी होकर विजय की दुन्दुभी सर्वत्र अबाध रूप से बजती चली गयी। दिग्विजय की गरिमा स्वयमेव उन्हें प्राप्त होती गयी। नगर, जनपद और राज्य, वन पर्वत और सरिताएँ समुद्र, उप समुद्र और महासागर, जल और थल, सब भरत के साम्राज्य के अंग बनते चले गये। विन्ध्यगिरि से हिमवान् पर्वत तक भरत-क्षेत्र का कोई भूखण्ड शेष न रहा जिस पर भरत की प्रभुता स्थापित न हुई हो।

जयलेख का शिलांकन

चक्रवर्ती के वशवर्ती प्रदेश की अन्तिम सीमाओं पर विजय प्राप्त करके वृषभाचल के उत्तुंग मणिमय शिखरों को देखकर, एक निमिष के लिए भरत के मन में मान का स्फुरण हो गया। उन्हें लगा कि उनका साम्राज्य लोकोत्तर विजय का प्रतीक है। क्यों न इस अद्वितीय यात्रा का शिलालेख इस पर्वत पर अंकित कर दिया जाये। आनेवाली पीढ़ियाँ भी जान सकें, कि चौदहवें कुलकर नाभिराय का पौत्र आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का पुत्र सम्राट् भरत ही वह प्रथम चक्रवर्ती हुआ जिसने इस दुर्गम प्रदेश तक विजय-यात्रा करके, इन दुरूह शिखरों पर अपनी जय पताका फहरायी।

वृषभाचल शिखर म्लेच्छ खण्ड का सबसे ऊँचा शिखर था। छह खण्ड पृथ्वी के विजेता भरत ने अपनी कीर्ति को टंकोत्कीर्ण करने के लिए वही शिखर पसन्द किया। अनुकूल स्थल की शोध में सम्राट स्वयं शिल्पी के साथ उस पर्वत शिखर पर गये। प्रमुख चट्टान की ओर बढ़ने पर शिल्पी को ऐसा भ्रम हुआ जैसे वहाँ पहले से ही कोई शिलालेख अंकित है। उसने विशेष ध्यान नहीं दिया और दूसरी शिला की ओर बढ़ गया। संयोग से वह शिला भी अछूती और कोरी नहीं थी। जब दो चार, दस शिलाओं का निरीक्षण कर लेने पर प्रत्येक शिला रेखांकित ही मिली, तब शिल्पी का माथा ठनक गया।

दीर्घ अतीत में इतने चक्रवर्ती इस भूखण्ड को विजित कर चुके हैं इतने विजेता इस दुर्गम पर्वत की यात्रा करके यहाँ अपने शिलांकन छोड़ गये हैं कि पूरा वृषभाचल उन जय-गाथाओं से भरा पड़ा है, यह देखते

ही भरत का विजेता मन, स्वत मान के शिखर से उतरकर सामान्य हो गया। क्षण भर के लिए अन्तर्मुखी होकर वे विचारने लगे—

इस भूमि को अगणित बार अगणित भूमिपालों ने अपनी सम्पत्ति घोषित किया। इस पर अपने स्वामित्व की गाथाएँ अंकित कीं। परन्तु इस भूमि ने स्वयं कभी किसी का स्वामित्व स्वीकार नहीं किया। यहाँ जो भी आया उसके प्रयत्नों को बालक्रीडा-सा मानकर इस पृथ्वी ने उदारता से सहा, प्रतिरोध में कभी कुछ नहीं कहा। परन्तु काल के थपेडों में मरणशील मानव की सारी जय-यात्राएँ सूखे पत्ते-सी उडती रहीं। मृत्यु के आघात ने एक दिन हर शिलांकन को मिथ्या प्रमाणित कर दिया, फिर भी आज मेरी विजय-यात्रा के चार अक्षर इस विशाल पर्वत पर चार अंगुल स्थान के आकांक्षी होकर तडप रहे हैं। यह है संसार की गति, और ऐसी है मानव की निरीहता।'

भरत का चिन्तन भंग करते हुए शिल्पी ने निवेदन करने का साहस किया—

'सामने की उस उन्नत शिला पर थोडी-सी पंक्तियाँ ही अंकित हैं उन्हें मिटाकर उसी शिला पर स्वामी का प्रशस्ति-लेख शोभा प्राप्त करेगा। सेवक आदेश का आकांक्षी है।

'मैं भगवान् ऋषभदेव का पुत्र भरत चक्रवर्ती हूँ।' इस संक्षिप्त प्रशस्ति से अधिक एक अक्षर भी वहाँ उत्कीर्ण कराने का उत्साह भरत के मन में नहीं था, परन्तु सम्राट के अमात्यों ने एक विशाल, प्रशस्ति लेख की रचना कर ली थी। अत्यन्त निरपेक्ष भाव से 'तथास्तु' कहकर भरत पास की ही एक चट्टान पर बैठ गये। उनका मन अशान्त और उद्विग्न हो उठा था। इतनी बडी दिग्विजय यात्रा में किसी ने उनके बल, विक्रम को चुनौती नहीं दी। किसी ने उनके अहम् को ललकारने का दुस्साहस नहीं दिखाया। यदि कोई ऐसा करता भी तो उसे तत्काल ही अपनी धृष्टता का परिणाम भुगतना पड जाता। परन्तु यहाँ, इस सूने पर्वत पर ये जड शिलाखण्ड, उनके अहम् को जो चुनौती दे रहे हैं क्या इसका कोई प्रतिकार है? अतीत के ये अनगिनते शिलालेख भरत जैसे असंख्य विजेताओं की क्षणभंगुर विजय पर जिस व्यंग्य से मुस्करा रहे हैं क्या उस व्यंग्य का कोई निराकरण है?

शिला पर अलंकार-युक्त भाषा में प्रशस्ति का अंकन पूरा हुआ। सेनापति ने चन्दन, रोली और अक्षत चढाकर उस प्रशस्ति के अमरत्व की कामना की। चक्रवर्ती के हाथों से भी तन्दुल के कुछ दाने उस शिलांकन

पर प्रक्षेपित हुए, परन्तु वह उनके विवश हाथो की ही क्रिया थी। भरत का मन उस शिलाखन की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न ही लगा रहा था।

षट-खण्ड पृथ्वी के आधिपत्य का नियोग पूरा करके भरत की सेनाएँ गृहनगर की ओर लौट पडी।

चक्ररत्न की पथ-बाधा

महाराज भरत छह खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके लौट रहे थे। अयोध्या नगरी अपने नरेश के स्वागत के लिए दुलहन की तरह सजी थी। नगर प्राचीर के बाहर मुख्य पथ पर स्वागत द्वार का निर्माण किया गया था। कई दिन पूर्व से अयोध्या की प्रजा आमोद प्रमोद मनाती हुई, भरत के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। विजय की गरिमा से गौरवान्वित, चक्रवर्तित्व की महिमा से मण्डित सम्राट भरत ने अपने परिकर और सैन्य-दल के साथ अयोध्या की सीमा पर पदार्पण किया। स्वागत द्वार से बहुत आगे पहुँचकर हजारो नर-नारियो ने उनकी अगवानी की। लाजा सुमन बिखेर कर राज पथ को रंग बिरंगा कर दिया। पथके दोनो ओर सौभाग्यवती स्त्रियो ने मगल कलशो की पक्तिया खडी कर दी। चक्रवर्ती भरत के जय जयकारो से अयोध्या का आकाश गूज उठा। राज माताएँ और राज रानियाँ महलो म भरत के स्वागत की सयोजना कर रही थी। कन्याएँ उनकी मगल आरती के लिए स्वागत द्वार पर उपस्थित थी। सहस्रो नर-नारी कभी दूर तक जाकर भरत के उस बिखरे विभव की महिमा का दर्शन करते थे और कभी नगर मे लौटकर पुरवासियो से उसका बखान करते थे।

जसे-जसे चक्रवर्ती की सेना नगर के समीप पहुँचती जाती थी वसे-वसे लोगो का हर्ष और उत्साह बढता ही जा रहा था। पक्तिबद्ध आगे-आगे चल रहे भेरी ध्वज और निशान, स्वागत द्वार तक पहुँचे ही थे कि तभी स्वागत का वह सारा उत्साह एकाएक खण्डित हो गया। स्वागत द्वार के समक्ष आते ही चक्र का शकट स्वत स्थिर हो गया। सारी सेना और समस्त परिकर स्तब्ध-सा होकर जहा का तहाँ रुक गया। अनेक प्रयास किए गये परन्तु देवोपुनीत वह चक्र, फिर टस स मस नही हुआ। मन्त्रिगण व्याकुल हो उठे। सेनापति उत्तेजना से अभिभूत हो गये। उन्हें अपनी सारी विजय निरर्थक-सी जान पडने लगी। सनिको म हलचल मच गयी किन्तु सम्राट भरत एकदम शान्त और निरुद्विग्न बने रहे। उन्होने निमित्तज्ञानी विचारको से परामर्श किया। बुद्धिसागर पुरोहित से उन्हे ज्ञात हुआ कि भूमण्डल पर अब भी नरेश

जब तक मनसा, वाचा, या कर्मणा चक्रवर्ती के अनुशासन को अस्वीकार करता है, उनके प्रतिरोध का संकल्प रखता है, तब तक उनकी विजय अधूरी है। ऐसी खण्डित विजय को लेकर चक्र नगर में नहीं लौटता। छह खण्ड पृथ्वी की सार्वभौमिकता का प्रतीक बनकर ही वह अयोध्या की आयुधशाला में प्रवेश करेगा। ज्योतिष के निष्णात उस विद्वान ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भरत के अनुशासन के बाहर और कोई नहीं, उनके अपने ही बन्धु-बान्धव हैं। पोदनपुर-नरेश बाहुबली ने और भरत के शेष अट्ठानवे बन्धुओं ने, अपने अग्रज भरत को भले ही सहस्र बार मस्तक झुकाया हो, परन्तु आज्ञावर्ती नरेशों के रूप में समक्ष आकर, चक्रवर्ती भरत को उन्होंने एक बार भी प्रणाम नहीं किया। न वे ऐसा करना ही चाहते हैं।

भरत ने विचार किया कि यह मेरा ही प्रमाद था। जय-यात्रा की इस आपाधापी में बन्धु-बान्धवों को मैं बिल्कुल ही भुला बैठा। अपने ही भ्राता आनन्द के सहभागी न हों तब ऐसी विजय का क्या लाभ? चक्र के गतिरोध ने भाइयों की बिसरी हुई सुधि दिला दी, उन्हें अपने रूप में सहभागी बनाने का अवसर प्रदान कर दिया, यह हमारे ऊपर उसका उपकार ही हुआ।

समस्या का समाधान भरत को अत्यन्त सहज लगा। उन्होंने अपने सभी भाइयों के पास दौत्य कला में निपुण संदेशवाहकों के हाथ, बहुमूल्य उपहारों के साथ आमन्त्रण भिजवाये। उन्हें साम्राज्य की इस विजयोत्सव बेला में उपस्थित होने का प्रेम भरा निर्देश दिया। परन्तु अस्वीकृति की दशा में अपने दूतों को साम, दाम के प्रयोग का अधिकार देना भी वे दूरदर्शी सम्राट नहीं भूले। अयोध्या के बाहर एक बार फिर भरत की सेना का स्कन्धावार स्थापित हुआ। सभी लोग विजय की पूर्णता के लिए आतुर वहीं प्रतीक्षा करने लगे।

सम्राट भरत के एक अनुज, पुरनताल के नरेश वृषभसेन, पूर्व में ही ऋषभदेव के समीप मुनि-दीक्षा धारण करके उनके गणधर बन चुके थे। दूतों के द्वारा भ्राता का कूटनीतिक आमन्त्रण प्राप्त होते ही शेष अट्ठानवे अनुज भी वृषभसेन के अनुगामी हुए। पिता द्वारा प्रदत्त अपने छोटे से स्वतन्त्र राज्य में, चक्रवर्ती भ्राता का हस्तक्षेप उन्हें मान्य नहीं हुआ। परन्तु अपने ही भ्राता के साथ विवाद बढ़ाने की अपेक्षा, कलह की मूल उस राज्य-लक्ष्मी का त्याग उन्हें अधिक प्रिय लगा। दूतों को सम्मान सहित विदा करके उन्होंने अपने पुत्रों के सिर पर राजमुकुट रखे। उन्हें भरत की अधीनता स्वीकार करने का परामर्श दिया और

वे सभी अट्ठान्नवे भ्राता एक साथ भगवान ऋषभदेव की शरण मे पहुँच गये। ससार की असारता और परिग्रह की पराधीनता का यथाथ दशन उन्हे हो चुका था। ससार, शरीर और भोगा के प्रति वराग्य धारण करके, उन्होंने भगवान के समक्ष मुनि-दीक्षा धारण की और मुनियो की परिषद् म विराजमान हो गये।



१९ संघर्ष की प्रस्तावना

पोदनपुर की राजसभा मे भरत के दूत दक्षिणाक का समुचित सत्कार हुआ। बाहुबली को स्वामी का पत्र सौंपकर दूत ने मौखिक रूप से भी उनकी क्षेम कुशल और दिग्विजय का बखान किया। बाहुबली ने आदरपूर्वक भरत का स्मरण करते हुए पत्र को क्रूर भाषा से भिन्न हारकर दूत से कहा—

'अग्रजन ने विजय उत्सव की वेला म हमें स्मरण किया है, यह हमारा अहोभाग्य है। दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते समय यदि उनकी आज्ञा प्राप्त होती तो इस विजय-यात्रा में उनकी सेवा करके हमे प्रसन्नता ही होती। नगर प्रवेश की पूर्व सूचना पा जाते तो हम भी ज म नगरी के द्वार पर, अपने विश्वविजेता बन्धु की अगवानी करते। वही हमारे भ्रातृ प्रेम का प्रतीक होता। खेद है कि उस समय भ्रात को हमारा स्मरण नही हुआ। आज अपने स्वार्थवश ही उन्होने हमे यह विवश आमन्त्रण भेजा है। उनका यह पत्र, किसी भी प्रकार 'अनुज के नाम अग्रज का पत्र लगता ही नही है। यह तो एक सामान्य नरेश को सम्बोधित चक्रवर्ती का आदेश मात्र है।'

महाराज ने ठीक ही समझा है। आप अग्रज की विजयोत्सव के सहभागी होकर इस अवसर पर उपस्थित हो हमारे स्वामी का यही अभिप्राय है। चक्र के नियोग की ऐसी ही अनिवार्यता है। परन्तु महाराज, इसम अनुचित क्या है ? क्या चक्रवर्ती हो जाने मात्र से अग्रज 'अग्रज' नही रह जाता ? क्या आज भी स्वामी बड़े और आप छोटे नही है ? फिर अयोध्या चलकर स्वामी का सम्मान करने म आपको आपत्ति क्या है ?' दक्षिणाक ने तर्क से भरत के आदेश का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

'प्रश्न अग्रज के सम्मान का नहीं है तात। अग्रज तो सदैव प्रणम्य होता है। फिर हमारे अग्रज का तो हम पर सदा स्नेह ही रहा है। उनके चरणों में झुक कर तो यह मस्तक गौरवान्वित ही होता रहा। आज भी अग्रज भरत के चरणों में हमारा मस्तक नमित ही है। उनका कोई आदेश होता तो हमारे लिए वह सादर शिरोधार्य था। किन्तु भ्राता का आदेश तुम्हारे पास है कहाँ? यह तो असि की धार दिखाकर प्रणाम उगाहने का एक सम्राट का राजनैतिक संदेश मात्र है। चक्र के आतंक से बलात् मस्तक झुका लेने का कुटिल प्रयास, किसी भी स्वाभिमानी को कैसे प्रिय हो सकता है?' बाहुबली ने संयत शब्दों में दूत के अभीप्ट के प्रति अपनी असहमति व्यक्त कर दी।

दक्षिणांक अपने पद की गरिमा के अनुरूप सहनशीलता, क्षमता और शब्दकौशल से युक्त था। ऋषभदेव की सेवा में रहकर उसने अनुभव भी प्राप्त किया था। आज उसकी योग्यता की परीक्षा थी। धैर्यपूर्वक उसने स्वामी का अभिप्राय साधने का पुनः प्रयत्न किया।

'एक बार पुनः विचारें महाराज! प्रणाम उगाहना ही यदि सम्राट का अभिप्रेत होता तो सम्पूर्ण भरत क्षेत्र की जय-यात्रा करनेवाली उनकी सेना के लिए पोदनपुर दुर्गम नहीं था। वे तो कभी आपको पराया मानते ही नहीं हैं। भ्रातृ-सुलभ व्यवहार ही आपके प्रति करना चाहते हैं। परन्तु संयोगवश आपके अग्रज चक्रवर्ती भी तो हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी के निरवरोध स्वामित्व का श्रेय उनका प्राप्तव्य है। विजय परिक्रमा के उपरान्त चक्ररत्न को आयुधशाला में स्थापित करना, उनका कर्तव्य है। वास्तव में सम्राट नहीं, वह यक्षरक्षित चक्र ही, आपके प्रणाम की अपेक्षा कर रहा है। चक्रेश के अनुशासन के प्रति सहमति की यह सामान्य प्रक्रिया है। इसमें किसी के मान-अपमान की भावना मुझे तो दिखाई नहीं देती।'

स्वामी के अभिप्राय के प्रति तुम्हारी निष्ठा सराहनीय है दूतराज, किन्तु ऐसा लगता है कि साम्राज्य की लालुपता ने तुम्हारे स्वामी का विवेक हरण कर लिया है। वे भूल गये कि हम भी उन्हीं ऋषभदेव के पुत्र हैं। उन पूज्य चरण ने अयोध्या पर जमी सत्ता अग्रज भरत को सौंपी थी, पोदनपुर पर वसा ही अधिकार हमें भी प्रदान किया था। अयोध्या के विभव का भागीदार बनने की हमने तो कभी आकांक्षा नहीं की। दिग्विजय में सम्राट ने जिस विपुल ऐश्वर्य का अर्जन किया है, उसके प्रति हम तो कोई प्रलोभन नहीं हुआ। फिर पोदनपुर के इस छोटे से भू भाग पर दांत लगाना उन्हें कहाँ तक शोभा देता है? क्या ऐसा करना

पूज्य पिताजी की अवज्ञा नहीं है ?

बाहुबली के मन का मनोभाव शब्दों में बिखरना प्रारम्भ हुआ तो बिखरता ही गया—

'तुम्हें स्पष्ट समझना होगा दूत, कि पोदनपुर के राज्य में किसी का कोई शासन नहीं है, और अपनी राज्य-सीमा के बाहर जाकर, किसी चक्रवर्ती की अभ्यर्थना करने की हमें आवश्यकता नहीं है। प्रणाम और सम्मान याचना करने से मिलते भी नहीं हैं। यदि चक्रवर्ती के चक्र का गत्यवरोध हो गया है तो उसे गतिमान करने के उपाय उन्हें स्वयं ढूँढ़ना चाहिए।

वाक्य समाप्त करते-करते बाहुबली के आनन पर रोष की जो रेखा खिंच गई, दूत से वह छिपी नहीं रह सकी। उसे भी अब अपने मन्तव्य का स्पष्ट उद्घाटन उचित लगा—

'चक्र तो अयोध्या में प्रवेश करेगा, महाराज। इस शगुन को पूरा करने के लिए जो भी करना पड़े न चाहते हुए भी सम्राट को वह करना ही पड़ेगा। उन्होंने अपने स्नेह के उपहार और शुभकामनाओं सहित आपको आमन्त्रित किया है। आपका उनकी इस सहज अपेक्षा का यदि निरादर होता है तो मुझे भय है कि चक्र की गति ।

दूत का वाक्य अधूरा रहा किन्तु अपनी वचन शक्ति के पूरे प्रभाव से उसने बाहुबली के हृदय को बेध लिया। क्षोभ और आवेग से उनका मुख तमतमा उठा। उन्होंने उसी क्षण दूत के वाक्य को पूरा किया—

'चक्र की गति पोदनपुर की ओर मुड़ सकती है, यही तो कहना चाहते हो न ? तब लोलुप चक्रधारी के दीन किंकर को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि बाहुबली का मस्तक अनीति के समक्ष न कभी झुका है, न कभी झुकेगा। भय और आतंक से कोई काम करने की शिक्षा न उसे भगवान् ऋषभदेव ने दी और न अग्रज भरत ने ही कभी ऐसा सिखलाया।

यदि आज भरत के लिए चक्र ही सब कुछ है, यदि साम्राज्य ही उनकी निष्ठा नीति और धर्म बन गया है तेरे जैसे अदूरदर्शी मूढ़ों का मन्तव्य ही, यदि उनका मन्त्र रह गया है, तब उनसे सामान्य व्यवहार की आशा करना ही व्यर्थ है। परिग्रह का प्रेत जिसे वशीभूत कर लेता है उसकी बुद्धि विश्राम ले लेती है। सहस्रों, उद्धत नरेशों और म्लेच्छ आततायियों के शीश की तरह बन्धु-बान्धवों का मस्तक भी यदि तलवार दिखाकर ही झुका लेना उन्होंने निश्चित किया है, तो बाहुबली को अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए, उस अन्यायपूर्ण आकांक्षा का प्रतिरोध करने में, कोई संकोच नहीं होगा।' कहकर बाहुबली अपने आपको संयत

करने में प्रयत्नशील हो गये।

तब चक्रवर्ती भरत का आदेश सावधान होकर सुनें महाराज, या तो सम्राट् की सेवा में उपस्थित होकर उनका अनुशासन स्वीकार करें या फिर युद्धक्षेत्र में उनके आक्रमण का सामना करने के लिए प्रस्तुत रहें। पोदनपुर नरेश के लिए तीसरा कोई मार्ग नहीं है।' आदेश सुनाकर भरत का दूत गर्व से ऐंठता हुआ राजसभा से जाने के लिए उद्यत हुआ।

दूत अवध्य माना गया है, यही आज तेरा भाग्य है दम्भिणायक! अन्यथा तुझे ज्ञात हो जाता कि बाहुबली को युद्ध का निमन्त्रण देने वाला मस्तक अधिक देर देह पर टिक नहीं पाता। वह देना अपने स्वामी से कि राज्य की सीमा पर उनका वीरोचित स्वागत करने में पोदनपुर की सेना से तनिक-सा भी प्रमाद नहीं होगा।

दूत के प्रस्थान करते ही वह राजसभा आन्दोलित हो उठी। युद्ध की सयोजना के लिए अमात्य और सेनापति सभासदों के साथ विचार-विमर्श करने लगे। दूसरे दिन प्रातःकाल सीमा की ओर ससैन्य प्रस्थान की घोषणा करने के उपरान्त ही सभा विसर्जित हुई।



२० अतीत का अनावरण

सार्वभौमिकता की मर्यादा रखने के लिए बाहुबली ने युद्ध की चुनौती स्वीकार कर तो ली, परन्तु उनका मन गहरे अवसाद में डूब गया। आकांक्षाओं और कामनाओं के कुचक्र में, बड़े-बड़े विवेकशील महापुरुष भी, कैसा अप्रिय आचरण करने को बाध्य हो जाते हैं, यह देखकर राज्य-लक्ष्मी के प्रति उनका मन विरक्ति से भर उठा। स्वजनों से उनकी उदासी छिपी नहीं रह सकी। सायंकाल आमोद-कक्ष में वार्तालाप करते हुए उनकी वल्लभा जयमंजरी ने उदासी का कारण पूछ ही लिया।

'अयोध्या से दूत आया था। आमन्त्रण दे गया है।' कहकर वे फिर विषादमग्न हो गये। महारानी ने उन्हें पुनः टोका, 'अग्रज का आमन्त्रण तो प्रसन्नताप्रद होना चाहिए। खिन्नता का इसमें क्या हेतु है?'

'आमन्त्रण सामान्य नहीं है देवी! यह अग्रज द्वारा प्रेषित भी नहीं है। अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट्, महाराज भरत ने पोदनपुर के नरेश बाहुबली को युद्ध का आमन्त्रण दिया है। असमंजस में उलझ गया हूँ। राज्य की मर्यादा और कर्तव्य की पुकार, इस संघर्ष को अनिवार्य बनाती है। दूसरी ओर भाई-भाई की इस लड़ाई से पूज्य पितृ चरणों की निर्मल कीर्ति लांछित होती दिखाई देती है। भ्राता भरत की सदाशयता और उदारता की स्मृतियाँ मन को झकझोर रही हैं। कोई मार्ग नहीं सूझता कैसे इस अप्रिय स्थिति का निराकरण हो।'

'स्वामी सब प्रकार से समर्थ हैं। कर्तव्य और धर्म की रक्षा के लिए जो भी करना पड़े, स्थिर चित्त होकर वही करना चाहिए। भावुकता और आवेश राज-काज में दोनों वर्जित हैं।'

'तब ठीक है जयमंजरी! हम भी यही सोचते हैं। युग-संस्थापक पिता के अंक में खेले हुए भाइयों के परस्पर युद्ध से ही यदि इस क्रम

भूमि का प्रारम्भ होना हो, तो फिर वही हो। भाग्य का लेख कौन टाल सकता है।'

देखती हूँ स्वामी आज अधिक उद्विग्न हैं। प्रलय की झंझा में भी मेरु को डिगते और सिंधु को सीमा छोड़ते मैंने कभी सुना नहीं।'

'उद्विग्नता का कारण कुछ और है देवी! बाहुबली युद्ध के आतंक से आतंकित नहीं है। जय-पराजय का सोच भी उसे आन्दोलित नहीं कर रहा। किन्तु अतीत की कुछ स्मृतियाँ बिजली-सी कौंध कर, आज उसके मन को बार-बार अशान्त कर रही हैं।'

—जबसे सुधि करता हूँ, पूरा बाल्यकाल अग्रज के स्नेह से ओत प्रोत दिखाई देता है। जननी की गोद से अधिक स्नेह, बड़ी माँ की गोद में भरत के साथ बैठकर ही पाया है। अयोध्या के उस विशाल राजमहल में कोई वस्तु तो ऐसी नहीं थी, जो कामना करते ही स्वयं भरत ने अपने इस अनुज को उपलब्ध न करा दी हो। उनका प्रिय से प्रिय भोज्य, और अच्छे से अच्छा खिलौना, इच्छा करते ही उन्हीं के हाथों से हमें तत्काल मिलता था। हमारे प्रिय पदार्थों में से एक भी पाने के लिए भरत ने कभी हठ किया हो, ऐसा हमें स्मरण नहीं है।

—पिता के अंक में बैठकर कथा सुनना भरत को बहुत प्रिय था। अवसर पाते ही हठपूर्वक वे अपना चाव पूरा कर लेते थे, परन्तु हमें वह स्थान प्रदान करने में उन उदार अग्रज ने कभी कृपणता नहीं की। हमारे पहुँचते ही वे स्वतः पिता के अंक से उतर जाते थे।

—फिर स्मरण करता हूँ सरयू के उथले जल में दो-दो घड़ी तक हम क्रीड़ा करते थे। मैं छोटा था, थक जाता तब भरत अपनी बलिष्ठ बाहों का सहारा देकर मेरा उत्साह बढ़ा देते थे। जन्म से ही भरत शान्त प्रकृति के थे मैं कुछ चपल था। खेलते समय सखावृन्द का कुछ अपराध बन जाने पर जननी के न्यायालय में जब-जब मेरी सुनवाई होती, तब अग्रज ही सदैव मेरा पक्ष लेते थे।

—जब कभी माता सुनन्दा का यह उपद्रवी बेटा जननी के हाथों ही बन्धन में डालकर महल के किसी कोने में रुद्ध कर दिया जाता, तब प्रताड़ित बालमखा तालियाँ बजा-बजाकर, नाच-नाच कर उसका उपहास करते थे। ऐसे विपदा काल में बड़ी माँ को बुलाकर उसे मुक्त कराने की चिन्ता केवल भरत को होती थी। इतना भर नहीं, इसके लिए जननी को बड़ी माँ की प्रताड़ना तक सुनना पड़ती थी। वे अपनी सफाई देतीं—'तुम नहीं जानती दीदी! लाड़ में यह कैसा उद्दण्ड हो गया है। मुझ तो कुछ समझता ही नहीं। देखना

अब इसी प्रकार सौंपा करूंगी इसे।'

—किन्तु बड़ी मा, मेरे लिए अगाध रही उनकी ममता और अनन्त रहा उनका लाड। कितने ही बार उन्हें कहते सुना करता—मेरे बाहुबली को तू क्या जाने, सुनन्दा। ये बालक पहले उसका उपद्रव करते है और वह उत्तर दे देता है तो तेरे पास उपालम्भ लाकर अपनी खीझ निकालते हैं। फूल-से बेटे की ऐसी प्रताडना? कितनी कठोर है तेरी छाती! कहे देती हूँ, अब कभी छूकर देखना मेरे बाहुबली को फिर बताऊँगी तुझे।'

—माताओं के उस वार्तालाप मे कितना यथार्थ होता, कितनी कृत्रिमता होती यह जानने की बुद्धि तब मुझ मे नही थी। परन्तु उसके उपरान्त, अपने बाहुबली या 'मुक्ति पर्व' मनाने के लिए, उस बालमण्डली के बीच 'मोदक वितरण अनुष्ठान' का प्रारम्भ बडी माँ के आगन मे होता था। दूसरे ही क्षण मोदमग्ना जननी को उसमे सम्मिलित होकर बडी माँ का हाथ बटाते हम देखते थे।

—अयोध्या का प्रत्येक गृह, एक एक आगन, हमारे लिए बडी माँ के आँगन की ही तरह लाड-प्यार से भरा मिलता था। द्वार-द्वार पर क्षण भर हम बिलमाने के लिए माताएँ अपने शिशुओ के साथ बाट जोहती रहती। घर मे और नगर मे सदा सर्वदा हम एक-सौ एक ही माने गये। अग्रज भरत एकमात्र वरिष्ठ, और हम एक-सौ कनिष्ठ, यही हमारी पहचान थी। यशस्वती और सुनन्दा के पुत्रो के रूप मे पृथक-पृथक करके कभी किसी ने हमे जाना हो, ऐसा हमे कभी नही लगा। हम स्वय भी तो बडे होकर ही यह भेद जान पाये।

—बालसखाओ के यूथ बनाकर हम तरह-तरह के खेल खेलते थे। आखमिचौनी कन्दुक और गिल्लिका, दौड की स्पर्धा और युद्ध की व्यूह रचना, ये सारे कौतुक उस क्रीडा का अग होते थे। एक यूथ का नेतृत्व अग्रज के हाथ मे आते ही, दूसरे का प्रधान बन जाना हमारे लिए अनिवार्य होता था। हम भली भाति स्मरण है देवी, कि कौतुक की उस विजय मे भी हमारे अग्रज के मुख पर कभी अहकार दिखाई नही दिया। किसी भी खेल की पराजय उन्हे कभी खिन्नता नही दे पायी। खेल की पराजय मे ऐसा अक्षोभ और इतना निस्पृह बना रहने वाला दूसरा कोई सखा हमारे बीच नही था। इसलिए ऐसा होता कि यदि हम बार-बार हारने लगते, तो पराजय की ग्लानि से हमे बचाने के लिए भरत स्वय अपने यूथ की हार स्वीकार कर लेते थे। उनकी स्नेह भावना से हमारी पराजय, उसी क्षण विजय के उल्लास मे परिवर्तित हो जाती। उन महा

प्राण अग्रज को हमने कभी अपने प्रति ईर्ष्यालु, अपना प्रतिस्पर्धी नही पाया।

—यह विधि की विडम्बना ही है कि वही भरत, अपने लाडले अनुज पर विजय की कामना लेकर, हठात् उसे युद्ध म घसीट रहे हैं। अनीति का प्रतिकार करने का जो पाठ पितृ चरणो म हम दोनो ने कभी पढा था, ऐसा लगता है कि आज उसी की परीक्षा लेने के लिए अग्रज ने हमे सीमा पर आमन्त्रित किया है।

—ऋषभदेव के सपूतो की इस क्षुद्रता पर लोक क्या कहेगा आज यही विचार हम सर्वाधिक व्यथित कर रहा है। अपनी हठ धर्मी का समाचार सुनाकर उन ममतामयी माताओ का हृदय विदीर्ण करने का दुष्कृत्य, हम उन्ही के जाये दोनो भ्राता करेंगे यही कल्पना हमारी सबसे बडी पीडा है। पर ऐसा लगता है कि यह पीडा निष्प्रतिकार है। इसे भोगना ही आज हमारी नियति है।

—हमे विश्वास है कि देवी, आज अग्रज के अतस म झाक कर कोई देख सके तो यही पीडा, इससे शतगुनी व्यथा उन्हे दे रही होगी। पर भरत योगी हैं, उनके मन की गहराई के समक्ष मुनियो की एकाग्रता भी लज्जित हो जाती है। उनको मन स्थिति जान लेना कभी किसी के लिए भी सम्भव नही रहा, माताओ के लिए भी नही।

—परीक्षा की इस घडी म युद्ध का आमन्त्रण अस्वीकार करके, पौरुष की मर्यादा हम लाछित नही करेंगे। पोदनपुर की महारानी को कायर की पत्नी कहलाने का प्रसग कभी आने नही देंगे। तुम्हारा लाडला बेटा महाबली, निर्वीर्य नरेश का पुत्र नही कहा जायेगा। परिणाम की चिन्ता किये बिना पोदनपुर की सीमित सेना, चक्रवर्ती की अक्षौहिणी का सामना करेगी।

—यह अवश्य है कि इस युद्ध मे हमारा चित्त विभाजित रहेगा। सम्राट के अहकार का खण्डन हमारा लक्ष्य होगा, परन्तु भरत का पराभव हम कभी नही चाहेंगे। अग्रज भरत के शरीर को भूल से भी हमारे शस्त्रो का स्पर्श यदि हो गया तो हम मर्मान्तक पीडा होगी। पोदनपुर का प्रत्येक सैनिक हमारी इस भावना के प्रति आमरण सावधान रहेगा। किसी के हाथो बडी माँ के बेटे का अकल्याण, उन कृपालु भ्राता की पराजय, हमारे लिए कल्पनीय भी नही है।'

भावनाओ म बहकर बाहुबली अत्यन्त अधीर हो गये थे। छोटी और बडी रसरी के बल से घूमती मथानी जसे दधि का मन्थन करती है, भावना और कर्तव्य की खींचतान म उसी प्रकार उनके मन का

मन्थन हो रहा था। शरीर स्थित था किन्तु मन मे प्रलय की लहरों-सा ज्वार उठ रहा था। मस्तक पर स्वेद बिन्दु झिलमिला रहे थे। रानी जयमंजरी ने उस विशाल मस्तक पर अपने प्रसून-मृदुल कर-पल्लव फेरते हुए स्नेहसिक्त वाणी मे संतप्त पति को सम्बोधन किया—

'अब शान्त होकर विश्राम करें स्वामी। परिस्थितियो के लय-ताल पर नाचने को हम सब विवश हैं। इसी का नाम तो संसार है। कर्तव्य के समक्ष भावना का शमन ही महापुरुषो का करणीय है। अनासक्त मन से वही आपको करना है।'

'प्राणेश्वर की प्रतिष्ठा खण्डित होती देखना पडे ऐसी हतभाग्या मैं नही हूँ। आपका पौरुष अजेय है, और मेरा भाग्य, इन्द्राणी भी जिसकी स्पर्धा करें ऐसा महान् है। अयोध्या की युवराज्ञी बनकर उस राज भवन मे प्रवेश करते समय, मैंने सर्वप्रथम बडी माँ के चरणो का ही आपके साथ वन्दन किया था। 'अखण्ड सौभाग्यवती भव', उनके मंगल आशीष के ये तीन शब्द, त्रिलोक की सम्पदा से भी अधिक सम्पन्नता मुझे दे गये थे। उस अमृत आशीष की सत्यता पर संदेह करूँ ऐसी पापिष्ठा मैं नही हूँ। मुझे उस वाणी पर, और अपने अखण्ड सौभाग्य पर अटल विश्वास है। मन की आस्था का वही कवच लेकर कल यह दासी भी इन चरणो की अनुगामिनी होकर स्वामी के पराक्रम का दर्शन करेगी।



२१ युद्ध की विवशता

निराशा से विवर्ण और यात्रा श्रम से क्लान्त, दक्षिणाक्ष पोदनपुर से लौटकर जब अपने स्वामी की सभा म प्रकट हुआ तब उसके बोलने के पूर्व, उसकी आकृति ने ही प्रत्येक सभासद को परिणाम से परिचित करा दिया।

'पोदनपुर-नरेश को अयोध्या आकर चक्र का सम्मान करना स्वीकार नहीं हुआ। राज्य की सीमा पर चक्रवर्ती से युद्ध के लिए उनकी सेना सन्नद्ध है। उसने सन्देश पूरा किया और सम्राट के आदेश की प्रतीक्षा म खड़ा हो गया।

भरत ने अपने कानो से जो सुना, मन को उस पर सहसा विश्वास नही हुआ। उन्होंने बात को स्पष्ट करना चाहा—

बाहुबली का बचपना अभी तक गया नही। हमारा वह भ्राता विनोदी भी तो बहुत है। कही एसा तो नही कि उसन विनोद म कोई उत्तर दिया हो और दूत ने कुछ अन्यथा अथ लगा लिया हो ?'

'सेवक से ऐसा प्रमाद नही हुआ स्वामी ! दास न तो महाराज को समझाने का भी प्रयास किया परन्तु सफलता उसके भाग्य म नही थी।' कहते हुए दूत ने बाहुबली के साथ अपनी वार्ता का सारा वृत्तान्त सुना दिया।

तब चक्रवर्ती का यह पद हम अभीष्ट नही है। अपन ही भ्राता के रक्त से अभिषिक्त सिंहासन पर भरत क्षण भर भी बठ नही सकेगा। समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया जाय अन्यथा चक्र जहाँ स्थिर है वही नवीन आयुधशाला का निर्माण कर दिया जाय। भूमि तो वह भी भरत की ही है।'

'चक्रवर्ती का पद इच्छा अनिच्छा पर निभर नही होता महाराज ! वह

भाग्य की दी हुई उपाधि है। निष्कण्टक साम्राज्य की स्थापना करके उस कर्मोदय का नियोग पूरा करना सम्राट् का कर्तव्य है। राष्ट्र की मर्यादा को पारिवारिक सम्बन्धों की तुला पर कभी नहीं तौला जाता। विजय यात्रा में किया हुआ अयोध्या के वीर सैनिकों का महान् परिश्रम क्षणिक भावुकता पर निछावर कर देना, कैसे उचित कहा जायेगा ?' यह महासेनाध्यक्ष का निवेदन था।

तुम्हारा विचार सम्यक् है सेनापति। निरंकुश और आततायी, प्रजापीडक शासकों को जीतने के लिए शस्त्र प्रयोग आवश्यक था किन्तु बाहुबली-जैसे न्यायप्रिय, और प्रजावत्सल शासक के साथ युद्ध क्या बहुत अनिवार्य है ? क्या समझौते का उपक्रम करके राष्ट्र की मर्यादा का निर्वाह नहीं हो सकता ?'

'युद्ध की भेरी अयोध्या से नहीं बजी महाराज ! हमने तो कूटनीतिक आमन्त्रण ही पोदनपुर भेजा था। पोदनपुर-नरेश ने सम्राट के संकेत का समादर नहीं किया। वे स्वतः युद्ध के लिए उतावले लगते हैं। संघर्ष अभी भी इस अभियान की अनिवार्यता नहीं है। अयोध्या की योद्धा पंक्ति के दर्शन मात्र से, बड़े बड़े नरेशों के मुकुट सम्राट् के चरणों में झुके हैं। युद्ध स्थल में आते-आते बाहुबली के मन में भी विवेक का उदय हो सकता है। अभियान हमें अविलम्ब करना चाहिए।'

आधी घड़ी तक सभा में सन्नाटा छाया रहा। महाराज भरत के पास इन तर्कों का कोई उत्तर नहीं था, परन्तु उनका मन प्रलय के समुद्र-सा उद्वेलित और अशान्त हो उठा था। उनके आनन पर चिन्ता, खेद क्षोभ और आक्रोश की रेखाएँ एक के उपरान्त एक आती दिखाई देती रहीं। एक दीर्घ निश्वास के साथ उन्होंने दृष्टि ऊपर उठाई और उनकी धीर गम्भीर वाणी सभा भवन में गूंज उठी—

यदि समग्र छह खण्ड पृथ्वी का सार्वभौमिक शासन ही चक्रवर्ती की अनिवार्यता है, चार धनुष धरती का समझौता भी यदि उसकी प्रभुता को खण्डित करता है, तब जो उस प्रभुता का समादर नहीं करे, चक्र की शक्ति का अनुभव ही उसका भाग्य होना चाहिए। पोदनपुर के विजय अभियान में विलम्ब करने का सेनापति के लिए अब कोई कारण नहीं है।'

मर्माहत अयोध्या

भरत के निर्णय की सूचना एक ही घड़ी में दावानल की तरह अयोध्या में फैल गई। उस अप्रिय संवाद ने प्रजा जनों को ऐसा मनस्ताप

दिया दावानल की भस्मक दाह भी उसके सामने शीतल ही प्रतीत होती। जिसने भी सुना अवाक् होकर रह गया। अनेकों को तो समाचार की सत्यता पर विश्वास ही नहीं हुआ। वे उसकी पुष्टि के लिए जैसे खड़े थे वैसे ही कटक की ओर दौड़ पड़े।

'बाहुबली की उद्दण्डता की क्या कोई सीमा नहीं है, दीदी! उसने भरत का अनुशासन नकार दिया। सुनती हूँ अग्रज के विरुद्ध युद्ध ही उसे प्रिय हुआ है। यह क्या हो गया है उसकी बुद्धि को?' आकुलित महारानी सुनन्दा दौड़ी हुई यशस्वती के कक्ष में गयी और मन की व्यथा का संकेत देती हुई उनके समीप ही बैठ गयी।

सन्ध्या का धुंधलका अभी पूरी तरह नहीं उतरा था, पर कक्ष के भीतर अंधकार व्याप्त हो चुका था। महारानी यशस्वती एक कोने में चौकी पर बैठी थी। जब कोई उत्तर नहीं मिला तब सुनन्दा ने लक्ष्य किया, बाण विद्ध पक्षी की भाँति मर्माहत, वे अर्द्धमूर्च्छित-सी वहाँ भीत से टिकी थीं। नेत्रों से बहकर अश्रुओं की धारा परिधानों को आर्द्र कर चुकी थी। सुनन्दा को समझते देर नहीं लगी कि माता के मन को आहत कर जानेवाला यह समाचार, उन्हें प्राप्त हो चुका है और थोड़े ही क्षण पूर्व वे बिलख बिलख कर रो चुकी हैं। वे अभी भी बिसूर रही थीं।

'यह क्या करती हो दीदी!' सुनन्दा ने दोनों हाथ उनके गले में डाल दिये। उसी क्षण महारानी कटे हुए वृक्ष की तरह उनके अंक में गिर गयीं। पीड़ा का ज्वार एक बार पुनः पूरे वेग से उठा। सुनन्दा के मन में प्रयत्न करके बाँधा गया धीरज का बाँध भी उसी वेग के आघात से छिन्न भिन्न हो गया। एक ही क्षण में वे दोनों माताएँ एक-दूसरे के अंक में करुण क्रन्दन कर उठीं। प्रकृतिस्थ होने पर यशस्वती ने ही कक्ष की नीरवता को भंग किया—

'मेरे उस बेटे का कुछ मत कह, सुनन्दा! बाहुबली का इसमें कोई दोष नहीं। पिता से प्राप्त राज्य में ही वह सन्तुष्ट और सुखी था। छह खण्ड पृथ्वी का स्वामित्व तो भरत का अभीष्ट बना है। इसी ने इस संघर्ष का बीज बोया है। बाहुबली ने जन्म तेरी कोख से लिया, पर वही मेरा सबसे लाडला बेटा बनकर रहा। मेरी इस भावना का सबसे अधिक अनुभव भरत को है। आज जननी की उस ममता का भी यदि भरत को संकोच नहीं है तो और किसी से मैं क्या कहूँ?'

'मैं भरत की टेक जानती हूँ। वह मुड़ेगा नहीं। इस सम्बन्ध में मेरी तेरी वर्जना भी वह नहीं सुनेगा। किन्तु देखती हूँ इस संघर्ष में गहरी आत्म-वेदना उसे भोगनी पड़ेगी। इस भ्रातृ-युद्ध में जय और पराजय

दोनों उसके मन को व्यथित ही करेंगी।'

'एक दिन सोचती थी, प्रजा की हानि करनेवाले उच्छृंखल नरेशों को अनुशासित करके यह भरत, अपने इक्ष्वाकु वंश की कीर्ति को त्रिलोक-व्यापिनी बना देगा। किन्तु लगता है, आज उसी भरत के कारण इस वंश पर कलंक का लांछन लगने जा रहा है। क्या यही दिन देखने के लिए हमारा जीवन शेष था सुनन्दा ?'

यशस्वती की वाणी में भरत पर जो आरोप थे उन्हें सुनकर मौन रह जाना सुनन्दा के लिए सम्भव नहीं था। लोक में वे बड़ी से बड़ी प्रताड़ना सह सकती थीं, पर भरत के विरुद्ध एक भी शब्द, चाहे भरत की जननी ही क्यों न कहे उन्हें कभी सह्य नहीं था। प्रतिवाद किये बिना वे रह न सकीं—

'तुम्हारा आरोप सम्यक् नहीं है दीदी ! कोख से जनम देना ही तो सब कुछ नहीं है। जननी होकर भी तुमने भरत को जाना ही कहाँ है। उसका हृदय तो नवनीत-सा कोमल है। शिशु-सा निश्छल है। चक्रवर्ती होकर भी हमारा यह बेटा, भीतर से अकिंचन और निर्लेप ही है। सब वृत्तान्त जानकर तुमसे कहती हूँ दीदी, भरत तो इस संघर्ष को टालना ही चाहता है। सब लोग प्रयास करें तो सम्भव है बाहुबली भी हठ छोड़ दें। मैंने महामन्त्री को उपस्थित होने के लिए तुम्हारा आदेश भेजा है। हमें कुछ उपाय करना चाहिए, रुदन से यह विपदा नहीं टलेगी।'

एक दासी ने दीपक लाकर कक्ष में प्रकाश कर दिया। तभी प्रतिहारी ने राजमाता के चरणों में महामन्त्री का प्रणाम निवेदन किया। यशस्वती महारानी का इंगित पाते ही अयोध्या के वयोवृद्ध महामन्त्री कक्ष में उपस्थित हुए। सम्मान सहित दोनों राजमाताओं का अभिवादन करके विनयपूर्वक वे एक ओर खड़े हो गये। दोनों हाथ बाँधकर खड़े हुए नत नयन वे वृद्ध, अवसाद की प्रतिमूर्ति ही दिखाई दे रहे थे। उनका मुख विवर्ण हो रहा था।

क्षण भर में ही यशस्वती का मर्मान्तक प्रश्न उनके कानों से टकराया—

'यह मैं क्या सुनती हूँ महामन्त्री जी ! राजकुल के विवाद हल करने के लिए युद्ध-क्षेत्र के बाहर कोई स्थान आप लोगों को उपयुक्त नहीं लगा ? अपने लोकपूज्य स्वामी के दो पुत्रों का संघर्ष ही क्या आपके नीति कौशल की अन्तिम उपलब्धि होगी ?'

'सेवक लज्जित है महादेवी ! संघर्ष को टालने के सारे उपाय असफल होते जा रहे हैं। इक्ष्वाकु वंश का उपकार, रक्त बनकर इस अधम

के शरीर में वह रहा है। प्राण देकर भी यह संघर्ष टाल सका तो सेवक अपने जीवन को सार्थक मानेगा।'

'आपसे यही आशा है महाभाग! आप भरत के मन्त्री भर नहीं इक्ष्वाकु वंश की मर्यादा के संरक्षक भी हैं। जैसे भी हो यह संघर्ष आपको टालना है। आज यही इस संतप्त जननी की प्रार्थना और अनुरोध, आदेश और निर्देश सब कुछ है। एक बात और कहती हूँ। भरत और बाहुबली दोनों यशस्वती के ही पुत्र हैं। अपने सम्राट् से कह देना, पुत्र का पराभव और जननी का जीवन एक साथ अयोध्या की प्रजा नहीं देख पायेगी।'

'इस सेवक को और लज्जित न करें महादेवी! दोनों पक्षों के मन्त्रियों तक यह मन्तव्य पहुँचाऊँगा। चक्रवर्ती की आज्ञा से अधिक राजमाता की भावना का सम्मान होगा और दोनों पक्षों को रक्तपात से बचाने का कोई मार्ग निकलेगा ऐसा मुझे विश्वास है। इन चरणों का आशीर्वाद ही मेरी शक्ति होगी।'

सादर प्रणिपात करके महामन्त्री कक्ष से बाहर निकल गये।



२२ विवशता का युद्ध

भरत के सैन्यदल को पोदनपुर की सीमा तक पहुँचने मे अधिक समय नही लगा। चक्रवर्ती का वह सहस्र आरोवाला दिव्य चक्र उनकी विशाल चतुरंगिणी सेना के आगे-आगे चल रहा था। इसी चक्र का अटल नियोग पूरा करने के लिए एक ही पिता के दो पुत्र आज युद्धस्थल मे परस्पर जूझने पर विवश हो गये थे। बाहुबली अपनी छोटी-सी सेना के साथ पहले से ही राज्य की सीमा पर उपस्थित थे। वितस्ता नदी के पश्चिम मे थोडी थोडी दूर दोनो सेनाओ के कटक स्थापित हुए। यात्रा-श्रम से क्लान्त भरत के सैनिक भोजन विश्राम की व्यवस्था मे जुट गये। अनेक प्रमुख जन दूसरे दिन प्रारम्भ होनेवाले युद्ध की सयोजना मे सलग्न हो गये।

दवयोग से हठात उपस्थित हो जानेवाली इस युद्ध की भूमिका ही अनोखी थी। चक्रवर्ती भरत न पोदनपुर को अपने राज्य-समूह की तालिका मे सम्मिलित करने के लिए यह अभियान किया था। इसी कारण पोदनपुर-नरेश ने अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए चक्रवर्ती से टक्कर लेने का सकल्प किया था। ये दोना प्रतिपक्षी सगोत्री ही नही, भाई भाई थे। उनका वात्सल्य लोक मे अनुश्रुतियो की तरह विख्यात था। दोनो अपने युग के पराक्रमी महापुरुष थ। दोनो महान् बलवान, अमित बुद्धि और अपार धय के स्वामी थे। दोनो की नीति निपुणता और अनुकम्पा सदाचार और प्रजा-वत्सलता, जगत् के लिए आदश मानी गई थी। हर दृष्टि से वे दोनो ही वीर अपने महान् पिता, ऋषभ देव के सुयोग्य पुत्र थे।

भरत और बाहुबली दोनो का सघर्ष तो कल होनेवाला था, पर दोना के ही मन मे विचारो का द्वन्द्व, भावनाओ का टकराव, अनक दिनो

से चल रहा था। युद्ध की विवशता से खिन्न दोनो भाइयो की मनस्थिति विचित्र-सी हो गई थी। परिस्थितियो ने यह युद्ध उन पर थोपा था। बिना लडे वे रह नहीं सकते थे, परन्तु यह लडाई उन्हे तनिक भी प्रिय नही थी। उनम एक दूसरे के लिए शत्रुता का भाव नही था, परन्तु दोनो ही मान कपाय के उद्रेक का अनुभवन कर रहे थे। अपनी टेक रखने के लिए दोना अपनी विजय के आकाक्षी थे परन्तु प्रतिपक्षी की पराजय इस युद्ध म उनका उद्देश्य नही था। भ्राता के पराभव की कल्पना तक उन दोनो के मन मे मर्मान्तक पीडा उत्पन्न करती थी। नियति के हाथ का खिलौना बने हुए वे दोनो महापुरुष अनेक दिना मे वह पीडा भोगने के लिए विवश थे।

पोदनपुर की सेना थोडी थी पर उसके सनिको का मनोबल बहुत ऊचा था। अपने राज्य की प्रतिष्ठा और अपनी स्वाधीनता की रक्षा का पवित्र अभिप्राय उन्हे प्रोत्साहित कर रहा था। अपने शक्तिशाली स्वामी का निरन्तर सामीप्य अभेद्य कवच की तरह उन्हे अपनी रक्षा करता सा लगता था। दूसरी ओर अयोध्या के सनिको म विश्वविजेता होने का गौरव तो था पर इस युद्ध के प्रति उनम उत्साह का अभाव था। वे समझते थे कि यह युद्ध किसी सुविचारित अभिप्राय के लिए आयोजित नही है, केवल चक्ररत्न की जडता ने सारे नेह-नाता की बलि देकर, भाई भाई के बीच इस युद्ध को अनिवाय बना दिया है। उन्हे लगता था कि इस अनोखी व्यवस्था का निर्जीव-सा अग बनकर व भी यन्त्र की तरह सचालित होने को बाध्य हो गए हैं। बाहुबली के अतिशय बल विक्रम की गाथाए वे अनेक बार सुन चुके थे। उनकी अजेय शक्ति से टकराने की कल्पना भरत के सैनिका को आतकित भी करती थी, परन्तु चक्रवर्ती की दिव्य शक्तियो के बल पर अपनी विजय के प्रति वे आश्वस्त थे। दोनो पक्षा के अनेक सनिक पूव परिचित थे। परस्पर मिल-बैठकर वे सुख-दुख की चर्चा करने लगे।

महामन्त्री न दोनो ओर के प्रमुखों और अमात्यो से विचार विमश किया सेनाध्यक्षो से भी मन्त्रणा की। राजमाता की भावना से उन्हें अवगत कराया। अपना विचार स्पष्ट शब्दो मे सबके समक्ष प्रस्तुत किया—

'एक दिन अयोध्या की सेना के विभाजन से पोदनपुर की सेना का गठन हुआ था। यद्यपि अपनी जन्मभूमि के लिए और अपने स्वामी के लिए हमारा जीवन सदा निछावर है परन्तु क्या आज एक ही शरीर के दाहिने हाथ को बायें हाथ से लडना पडेगा। अरिमदन करनेवाले अपने

क्षण भी नहीं लगा। वे धीर गम्भीर महापुरुष, नितान्त निरपेक्ष भाव से, इस युद्ध को कौतुक-सा ही लेखते थे। स्वाधीन वृत्तिवाले निष्काक्षित व्यक्ति का मस्तक, शक्ति के प्रयोग से काटा जा सकता है, पर झुकाया नहीं जा सकता, इस यथार्थ को चरितार्थ करके दिखा देने के लिए वे कृतसंकल्प थे। अनिश्चय दुविधा या आतंक उनके मन में नहीं था। अनीति का प्रतिरोध और स्वाभिमान की रक्षा हेतु किसी भी क्षेत्र में किसी भी चुनौती को स्वीकारने के लिए वे चट्टान की तरह अडिग थे। उन्होंने उभय पक्ष के अमात्यों द्वारा प्रस्तुत द्वन्द्व युद्ध का वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। युद्ध के प्रकार और नियम निर्धारित करने का कार्य भी उन्होंने उसी अमात्य परिषद पर छोड़ दिया।

रात्रि विश्राम के पूर्व ही महामन्त्री ने घोषणा कर दी—

'सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध होगा। दोनों वीर एक दूसरे पर निर्निमेष दृष्टि निक्षेप करेंगे। जिसके पलक मुंद जायेंगे वह पराजित माना जायेगा।

जलयुद्ध इस शक्ति परीक्षण का दूसरा प्रयोग होगा। सरोवर में खड़े होकर दोनों को एक दूसरे पर हाथ से जल निक्षेप करना है। जल की सशक्त बौछारों से जो विचलित हो जाये उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी होगी।

मल्ल-युद्ध अंतिम और निर्णायक संघर्ष होगा। मल्ल विद्या के नियमों से प्रतिबद्ध दोनों सुभट अपनी शरीर शक्ति से एक-दूसरे को धराशायी करने की चेष्टा करेंगे। जो अपने प्रतिद्वन्द्वी को गिराने में सफल हो जायगा विजयश्री उसी की दासी होगी।'

दृष्टि-युद्ध

वन के विस्तृत प्रांगण में एक मंच पर भरत और बाहुबली आमने सामने उपस्थित हुए। मंच के चारों ओर अयोध्या और पोदनपुर के सेनाध्यक्ष, अमात्यगण और प्रमुख पार्षद बैठे थे। इस अभूतपूर्व युद्ध को देखने के लिए उत्सुक सैनिकों का समूह चारों ओर एकत्र हो गया।

दीर्घ अन्तराल के उपरान्त दोनों भ्राताओं को एक साथ देख पाना बहुतों को सुखद लगा। अयोध्या की सेना में ऐसे अनेक सैनिक थे जिन्हें आज प्रथम बार बाहुबली का दर्शन मिला था। कामदेव का वह दिव्य सुन्दर रूप निहारकर वे ठगे से रह गए। जिस प्रसंग में यहाँ एक बन्धु मिलाप हो रहा है उस अप्रिय प्रसंग का स्मरण आते ही अनेकों का मन सिहर उठा। महामन्त्री अपने मन की विकलता पर नियन्त्रण नहीं रख पाये। वे अपने स्वामीपुत्रों की इस युगल जोड़ी को अपलक निहार रहे

थे, उधर राजमाताओं की कातर मुख मुद्रा उनकी कल्पना-दृष्टि में झूल रही थी। उनके नेत्रों से निराशा और वेदना की दो उष्ण धाराएँ निकलीं और सघन श्वेत मूछों में विलीन हो गयीं। वे अपनी पीड़ा को पीने के प्रयास में संलग्न हो गये।

घण्टे की टनकार के साथ ही दृष्टि निक्षेप की स्पर्धा प्रारम्भ हुई। बाहुबली आयु में कनिष्ठ थे, परन्तु शरीर की ऊँचाई में वे भरत से बड़े थे। बीस इक्कीस के अन्तर में भरत बीस थे, बाहुबली इक्कीस थे। अब दोनों भ्राता आमने-सामने हो खड़े थे। निशस्त्र और शान्त भरत उन्हें आज भी सदैव की तरह प्रणम्य अग्रज ही दिखाई दिये। वैसे ही स्नेहशील, उतने ही करुणामय। एक निमिष के लिए उनकी दृष्टि भरत की दृष्टि से मिली, परन्तु उन्हें उसमें द्वेष, या क्रोध का किंचित भी पुट दिखाई नहीं दिया। अपनी ओर निहारते हुए भरत की वह मुद्रा उन्हें सदा की तरह सामान्य ही प्रतीत हुई। भ्राता से दृष्टि मिलाये रखने का यह प्रयास बाहुबली को असंभव लगा। ऐसी धृष्टता उन्होंने खेल-खेल में भी कभी नहीं की थी। उनकी दृष्टि अग्रज के मुख से हटकर सदा की तरह उनके चरणों पर केन्द्रित हो गयी। पल भर को ऐसा लगा जैसे बाहुबली ने अग्रज का अभिवादन कर लिया हो।

भरत के पद पद्म बाहुबली की दृष्टि के प्रिय विश्राम स्थल रहे हैं। प्राय वार्तालाप में, आपस की मन्त्रणा में, अनेक बार देर-देर तक उनके नयन, भ्रात चरणों के अपलक अवलोकन का आनन्द उठाते रहे हैं। नत नयन होकर, वरिष्ठजनों के चरणों की ओर दृष्टि रखकर वार्तालाप करना ही अयोध्या के राजकुल की परम्परा रही है। भरत-बाहुबली से लेकर कालान्तर में राम-लक्ष्मण तक उस राजमर्यादा का अविच्छिन्न निर्वाह हुआ है। उसी अभ्यास और मर्यादा से बँधी बाहुबली की अपलक और अकम्प दृष्टि अग्रज के चरणों में स्थिर हो गयी। उनके नत नयन अर्धोन्मीलित लग रहे थे। भरत का आपाद मस्तक रूप उन नयनों में समाता जा रहा था।

मन के ऊहापोह से उबरकर भरत ने जब बाहुबली की ओर ध्यान दिया, तब अनुज की दृष्टि अपने चरणों पर टिकती हुई उन्हें भी अभिवादन की मुद्रा-सी ही लगी। विजस्व बाहुबली अनजाने में अनायास ही उस सहज अभिवादन का शाश्वत प्रत्युत्तर भरत के मन में गूँज उठा। आशीर्वाद के उस आंतरिक गुंजन के साथ, उनके होठ भी स्पंदित हुए परन्तु इतने धीमे, ऐसे अस्पष्ट, कि किसी भी कान में व शब्द सुनाई नहीं दिये।

भरत ने अनुभव किया बाहुबली उदास थे। उनके शरीर की अलौकिक सुन्दरता को, मनकी उदासी ने द्विगुणित कर दिया था। प्रात की धूप मे खिला हुआ कमल, असमय घिरी घटाओ की छाया पडने पर आहत छवि होकर, जैसे अधिक आकर्षक लगने लगता है बाहुबली का सदा प्रमुदित मुख, विषम परिस्थितियो की छाया मे, भरत को वैसा ही मनोहर लगा। बहुत समय से बिछुडे कामदेव भ्राता का वह चिरपरिचित सुन्दर मुख, नीलोत्पल से दीर्घ नेत्र, सघन श्यामल केश विशाल वक्षस्थल आजानु प्रलम्ब भुजाएँ भरी हुई गोल-गोल जघाएँ और आनुपातिक सशक्त शरीर ज्यो ही भरत ने देखा, थोडी देर तक वे उसे देखते ही रह गए। वे विचारने लगे—'तनिक भी परिवर्तन तो नही हुआ हमारे भ्राता मे। कुमार अवस्था मे जैसा भोलापन इस आनन पर खेलता था, जैसी निर्मल स्निग्धता इस दृष्टि मे तैरती थी आज तक वह सब वैसी ही तो है। अवज्ञा या उद्दण्डता की छोटी-सी झलक भी तो नही है इसकी भगिमा मे। ऐसे अनुज के साथ सघर्ष, विधि की यह कैसी विडम्बना है ?'

भरत को लगा यह चिर-परिचित छवि तो अपलक देखने के ही योग्य है। युग-युग तक ऐसे ही ऊर्ध्व मुख होकर निहारते रहे तब भी इसे निहारते रहने की पिपासा बनी ही रहेगी। वह तृषा कभी शान्त नही हो सकेगी। कौन जाने इस सघर्ष की क्या परिणति हो ? फिर कब अनुज की यह मोहिनी मूरत देखने को मिले ? मिले भी या नही, तब क्यो न एक बार दृष्टि भर निहारकर इस अपरूप छवि को सदा के लिए अपनी पलको मे मूद लू। क्यो न एक बार उस तृप्ति का जी भर कर आस्वाद लू।

इन्ही विचारो मे खोये भरत ने सम्मुख खडे बाहुबली को एकटक निहारते निहारते कब दोनो नयन मूद लिये, वे स्वय भी नही जान पाये। प्रवर परिषद् के सदस्यो ने घण्टा ध्वनि के साथ उनकी पराजय की घोषणा कर दी तभी उनकी दर्शन-समाधि भग हो सकी। पराजय के क्षणो मे भी भरत के मुख पर तृप्ति का आनन्द झलक रहा था। चरणो की ओर झुकते अनुज को बाहो मे भरकर उन्होने छाती से लगा लिया।

जल-युद्ध

समीप के सरोवर मे जल-युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनो प्रतिस्पर्धी छाती तक गहरे जल मे आमने सामने खडे होकर एक दूसरे पर जल निक्षेप करने लगे। दोनो के हाथो मे लहरो-सी क्षिप्रता और वज्र सी शक्ति थी।

सरयू के सलिल में अनक बार की गई क्रीडा का दोनो को अभ्यास था। बडी देर तक नाना मुद्राओ मे दोनो ने जल प्रयोग किया परन्तु भरत की अपेक्षाकृत कम ऊँची देह इस प्रतिस्पर्धा मे उनकी विजय मे बाधक रही। बाहुबली के सशक्त करो से प्रक्षपित जलपुज बार-बार उनके नेत्रो को निमीलित करता हुआ, मुख भाग को प्रताडित करता हुआ उन्हे क्लान्त करता रहा, किन्तु भरत द्वारा उछाला गया जल बाहुबली की ग्रीवा से ऊपर नही पहुँच पाया। उससे उन्हे कोई क्लान्ति नही हुई। दो घडी तक पूरे वेग से यह जल-क्षपण चलता रहा। पश्चात थकित गात भरत ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। बाहुबली की सेना मे हर्ष का सचार हुआ। अयोध्या के सनिको का मुख मलीन हो गया।

मल्ल-युद्ध

अब अन्तिम सघर्ष की बारी थी। मल्ल-युद्ध म भरत बाहुबली दोनो को परस्पर जूझना था। नदी तीर की स्वच्छ बालुका से रात्रि में ही वहाँ एक विस्तृत रेणु-क्षेत्र का निर्माण हो चुका था। छोटी-छोटी पीत पताकाओ और श्वेत रेखाओ से उस क्षेत्र को सीमाबद्ध कर दिया गया। चारो ओर सभी लोग यथास्थान बठ गये।

अयोध्या की व्यायामशाला म क्रीडा के लिए जसे ही आज मल्ल-युद्ध के लिए सन्नद्ध दोनो वीर उस रेणु-क्षेत्र म प्रविष्ट हुए। उनके सुन्दर सुडौल शरीर, तेल से सुचिक्कण होकर चमक रहे थे। देह पर एक कसी हुई कोपीन के अतिरिक्त कोई वस्त्र अलकार नही था। कर्मोदय और परम्परा ने जसे आज उनकी समस्त भावनाओ को अपनी अटलता म बाधकर विवश कर दिया था, उसी प्रकार उनकी काया तक लहराती सघन केश राशि कौपिय पट्टिकाओ मे बाँधकर अनुशासित की गई थी। दोनो एक दूसरे से अधिक सुन्दर, अधिक मनभावन लग रहे थे।

प्रवरगणो की साक्षी म युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनो सुभट मल्ल विद्या के कुशल अभ्यासी थे। प्रतिस्पर्धी की नासा, नेत्र और ग्रीवा आदि मर्म-स्थलो को बचाते हुए अपने युद्ध विधानो द्वारा, पूरी शक्ति के साथ वे एक दूसरे को धराशायी करने का प्रयत्न करने लगे।

लगातार दो बार की पराजय ने भरत के मन को खीझ से भर दिया था। उन्हे लगा कि उनकी हार से पर-साम्राज्य की सेना म, देश विदेश के नरेशो-सामन्तो मे उनका उपहास होगा। ससार उनके अपयश पर हँसेगा। उनका साम्राज्य छिन्न भिन्न हो जायगा। बाहुबली को पराजित किये बिना उन्हे अपनी दिग्विजय निरर्थक दिखाई देने लगी। चक्रवर्तित्व



२३ राग की लालिमा विराग का सूर्योदय

चक्र के लौटते ही भरत की स्वाभाविक चेतना भी लौट आयी। क्रोध के स्थान पर पश्चाताप की भावना से उनका मन अभिभूत हो गया। झुका हुआ मस्तक बडी देर तक ऊपर उठाने का उन्हें साहस नही हुआ। वे विचारने लगे—

'यह कैसा अपराध मुझसे बन गया ? शस्त्रविहीन बाहुबली पर चक्र का प्रहार, अपने प्रिय अनुज के घात का विचार इतनी भीषण अनीति हुई मेरे द्वारा ? यह क्या हो गया था मेरी बुद्धि को ?'

— ऋषभदेव का पुत्र मैं चक्रवर्ती भरत, कैसे इतना विवेकहीन हो गया ? मैं यह भूल गया कि बाहुबली मेरा भाई है, और उचित अनुचित के विवेक से स्वत सचालित यह चक्र, बधु बाधवो का घात नही करता। मैं यह भी भूल गया कि मेरा यह अनुज मोक्षगामी शलाकापुरुष है, ऐसे उत्तम शरीर का असमय अवसान कर दे, काल मे ऐसी सामर्थ्य कहाँ है ?

—'आज इस सघर्ष मे मेरे भाग्य और शक्ति का निर्णय बार-बार हो गया। तीन बार होना था, चार बार हो गया। अयोध्या के सिंहासन पर अब मेरा कोई अधिकार नही। बाहुबली ही अब इस छह खण्ड पृथ्वी का अधिपति है। चक्रवर्ती को पराजित करनेवाला वही सुभट वास्तविक चक्रवर्ती है। उसका साम्राज्य उसे सौंपकर आत्मकल्याण की साधना मे लगूँ, अब यही मेरे अपराध का परिमार्जन होगा।'

प्रबुद्ध भरत ने मस्तक ऊपर उठाया। उनके नेत्रो से पश्चाताप के अश्रु झर रहे थे। किसी की ओर बिना देखे किसी से बिना बोले, धीमी गति से वे चार पग चले और अपराधी की तरह हाथ बाधकर बाहुबली के समक्ष खडे हो गये। चरणो से ऊपर उनकी दृष्टि अनुज का देख ही

नहीं पा रही थी। उनकी वाणी मूक थी परन्तु भंगिमा भ्राता से क्षमा की भिक्षा माँग रही थी। ग्रीवा तक बहती अश्रुधार, उनकी मन स्थिति को उन्हीं के वेदना विदीर्ण मुख पर चित्रित करती जा रही थी।

बाहुबली का नवनीत-सा कोमल हृदय भरत के मनस्ताप से द्रवित हो गया। अग्रज का लज्जानत, निस्तेज मुख देखकर करुणा से उनके नेत्र सजल हो गये। शान्त मन से उन्होंने भरत का सम्बोधन दिया—

'तुम्हारा कुछ दोष नहीं भइया! कषाय का उद्रेक ऐसा ही दुर्निवार होता है। परिग्रह की लिप्सा अनर्थों की जड है। पर-स्वामित्व की लालसा ही हमारी परतन्त्रता है। हम परतन्त्रता का यह दुखद बंधन तोड़ना ही होगा। हमने राज्य त्यागकर दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया है। हमारे कारण तुम्हें इतना सन्ताप हुआ, इस अपराध के लिए हमें क्षमा कर देना। तुम बड़े हो, जो कुछ हुआ उसे विसार देना। तुम्हारे चक्र को आयुधशाला तक जाने में अब कोई बाधा नहीं होगी। अयोध्या का सिंहासन अपने स्वामी की प्रतीक्षा कर रहा है।'

'बड़े तो तुम हो कुमार! अपनी ही करनी से आज यह भरत छोटा हो गया है, लज्जित करके उसे अब और छोटा मत करो। अयोध्या का सिंहासन, यह चक्र यह सारा साम्राज्य अब तुम्हारा है इसे स्वीकार करो। इस हारे हुए योद्धा से अयोध्या का सिंहासन लांछित ही होगा। इसे तो अपनी अपार क्षमा की थोड़ी-सी ज्योत्सना प्रदान करके अपने हित का मार्ग ढूँढने दो। भूल सबसे होती है भ्रात, किन्तु क्षमा करने की उदारता सबमें नहीं होती। वह जिनमें होती है वही महान् होते हैं। उन्हीं की पूजा करके यह संसार पवित्र होता है।' हाथ जोड़कर भरत ने उत्तर दिया। उनकी अधीरता देखकर बाहुबली ने उन्हें पुन समझाया—

'तुम अकेले पराजित नहीं हुए भइया! आज तो हम दोनों ही हारे हैं। युद्ध की जय-पराजय तो योद्धा के जीवन का अंग है। इसमें पराजित होना हारना नहीं कहलाता। अपने भीतर पनपते हुए शत्रुओं से हारना ही हमारी हार है। राग द्वेष के वशीभूत हो जाना ही सबसे बड़ी पराजय है। कषायों के उद्रेक ने हम दोनों को अभिभूत कर लिया अत पराजित तो हम दोनों ही हुए हैं।

—'सृष्टि का शाश्वत नियम है भइया, कि जब हम कषाय के शिखर पर आरूढ़ होते हैं, तब केवल अपने ही पाने और खोने के लेखे में खो जाते हैं। अपनी ही जय-पराजय तक हमारी दृष्टि सीमित हो जाती है। उचित-अनुचित, नीति-अनीति, कुछ भी फिर हमें दिखाई नहीं देता। तब हमारा सन्तुलन, किसी न किसी क्षण बिगड़ता ही है। हमारा पतन

अवश्यम्भावी हो जाता है। पराजय ही तब हमारी नियति होती है।'

—'कषाय के वशीभूत होकर आज हम दोनों ने उस पराजय की पीड़ा भोगी है भ्रात! भविष्य में ऐसी पराजय न देखना पड़े, इसी का उपाय अब हमारे जीवन का पुरुषार्थ है। पिताश्री के मार्ग का अनुसरण करके हम अब उस युद्ध में उतरना चाहते हैं जिसमें अन्तर के शत्रु परास्त हो जाते हैं। जीतने पर जहां शाश्वत विजय प्राप्त होती है। पराजय की आशंका ही जहाँ निर्मूल हो जाती है। व्यर्थ का मनस्ताप मेट कर तुम्हें भी अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इस हठी अनुज ने बहुत कलेश दिया है तुम्हें। सदा की तरह इसे क्षमा कर देना भइया!' वाक्य पूरा करके बाहुबली ने वन की ओर अपनी दृष्टि उठायी।

अग्रज ने रूठे हुए अनुज को एक बार और मनाना चाहा, पर वाणी ने उनका साथ नहीं दिया। दौड़कर वे उस रमते जोगी के चरणों में गिर गये। उन गमनोद्यत चरणों को भुजाओं में भर लिया और चीख पड़े—'नहीं, नहीं, नहीं कुमार। इतना कठोर दण्ड भरत नहीं सह पायेगा। बार-बार उनके मुख से निकलते ये शब्द उन्हीं की सिसकियों में एक रूप होकर रुदन बनते रहे। उनका खण्डित अहंभाव पिघल पिघल कर बाहुबली के चरणों पर बिखरता रहा।

बाहुबली स्तम्भित खड़े थे। जिन अग्रज को उन्होंने पिता की तरह आदर दिया था, उन्हीं भरत का सिर आज उनके चरणों में लोट रहा था। मोह की जटिलता कैसी विचित्र है। राग का नागपाश कितना सशक्त है? मेरी हठधर्मी ने कितनी वेदना दी है भरत को? सोच-सोच कर क्षमासिन्धु बाहुबली का हृदय पसीज उठा। उनकी अनुकम्पा अनुकणों का रूप लेकर भरत के सिर पर बरस पड़ी। प्रशम संवेग, अनुकम्पा, वात्सल्य और ममता की पंच धाराओं से उन दोनों भ्राताओं का तन और मन सराबोर हो गया। बाहुबली के करुणा विगलित नेत्रों के पवित्र जल से भरत का राज्याभिषेक हो रहा था। उसी समय भरत की अश्रुधारा के प्रासुक उष्णोदक से बाहुबली के चरणों का दीक्षाभिषेक हो रहा था। दोनों भ्राताओं के भीषण संघर्ष का साक्षी वह जनसमुदाय, उन्हीं भ्राताओं के अलौकिक अश्रु-अभिषेक को अब विस्मित होकर देख रहा था।

बाहुबली ने भरत को उठाया और गले से लगा लिया। उनके सिर पर हाथ फेरते हुए वे उन्हें मौन सान्त्वना देते रहे। उसी समय महाबली ने चरणों पर मस्तक रखकर पिता को प्रणाम किया। पुत्र को भी बाहुबली ने भ्राता के साथ ही भुजाओं में भर लिया। उनका एक हाथ चक्रवर्ती के

सिर पर था, दूसरे हाथ से वे पोदनपुर के युवराज के मस्तक का स्पर्श कर रहे थे। सबके आनन पर सूक्ष्म मनोभावों का कल्पना-थकित नर्तन हो रहा था। शब्द वहां वर्जित थे। उस दुर्लभ-दृश्य की महिमा कथनीय नहीं केवल दर्शनीय थी। भरत को प्रकृतिस्थ जानकर उन्होंने महाबली का हाथ भरत के हाथों में दिया, पलक उठाकर एक बार दोनों पर दृष्टि डाली, फिर शान्त गम्भीर उन योगीश ने नीची दृष्टि किये मन्द गति से वन की ओर पग बढ़ा दिये।

पहला पग उठा तभी
वन्य पुष्पों की एक भरी भरी अंजुरी
उस वैरागी के पथ पर बिखर गयी।
अगला पग उठा और
वह सुरभित पुष्पावलि पथ को ही ढांक गयी।
वीतराग दृष्टि उठी,
योगी ने लक्ष्य किया—
पोदनपुर की राजमहिषी नहीं चिरसंगिनी जयमंजरी
पुत्र की बाहों के सहारे पर अवलम्बित
(अखण्ड सौभाग्य की अक्षय पुष्पांजलि-सी)
प्रियतम के पथ को प्रसून मृदुल करने की—
स्नेह सिक्त कामना को रूपायित करती-सी,
अन्तर के श्रद्धा-सुमन
नयनों के मुक्ताकण,
हाथों के पुण्यपुंज,
पथ पर बिखराती हुई पादप में खड़ी थी।
अरुण कपोलों पर बड़े बड़े दो मोती
वंदना की शुक्ति से निसृत हुए थे,
या हर्ष का पारावार अन्तर से छलका था।
कौन पहिचान सका,
थाह किसे मिल पायी
सागर नहीं था वह नारी का मन था।
योगी की दृष्टि
जिस गति से उठी थी उसी—
क्षिप्र गति से लौटी और पथ पर एकाग्र हुई,
चरणों की गति में तनिक भी व्यवधान
लक्षित नहीं हुआ।

२४ अनिरुद्ध चेतना का निष्कण्टक साम्राज्य

चक्रवात का शक्तिशाली प्रकोप निस्तब्ध सागर में एकाएक ऊँची ऊँची लहरें उठा देता है। शान्त जल में बड़े बड़े भँवर उठते हैं और समुद्र को तल तक मथ देते हैं। उनकी चपेट में शक्तिशाली पोत भी काष्ठफलक की तरह उलट-पलट हो जाते हैं। जलगर्भ में बड़वाग्नि धधक उठती है। जलचरों की सृष्टि तहस-नहस हो जाती है, किन्तु चक्रवात थमते ही थोड़ी ही देर में सब कुछ सामान्य-सा हो जाता है। समुद्र वैसा ही शान्त और गम्भीर दिखाई देने लगता है। उस विप्लव की विनाशक शक्ति का अनुभव भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। तट पर टहलनेवाले उस भयंकरता की कल्पना नहीं कर पाते। इसी प्रकार कषायों के भीषण चक्रवात में वह युद्धक्षेत्र फँस गया। थोड़ी देर पूर्व, दो घड़ी में जो कुछ वहाँ घट गया, दो प्रहर में भी उस अनुभव को कहा नहीं जा सकता। जिन्होंने उस प्रभंजन को भोगा था, वे ही उसकी भीषणता आंक सकते थे। उन दृश्यों की स्मृति बार-बार उन निरीह निरुपाय जनों को रोमांच और सिहरन दे जाती थी। सबने जुदी-जुदी वेदना के साथ उन विलक्षण क्षणों को जिया था।

बाहुबली के निष्क्रमण के साथ वह चक्रवात पूरी तरह शान्त हो गया था। माघ मास की हिम शीतल वायु का एक झोंका जिस तरह हरे भरे उपवन को शीत प्रकोप से जला देता है, बड़े-बड़े वृक्षों-पौधों को क्षण भर में निर्जीव कर देता है, उसी प्रकार कषाय के उद्रेक का प्रकोप, सारे वातावरण को दग्ध और जीवनविहीन-सा कर गया था। अब वहाँ सब कुछ नीरव और निर्जीव-सा लग रहा था। भरत नीरस काष्ठ की तरह अचेत और निश्चेष्ट खड़े थे। सेनाधिप और सैनिक, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर एक दूसरे का मुख देख रहे थे। महाबली की बाहों में उनकी जननी

बेसुध-सी पड़ी थी। बाहुबली जिस ओर गये थे, टकटकी बाँधकर भाव शून्य नेत्रों से, अब तक वे उसी ओर ताक रही थीं। हाथों में सिर थाम कर महामन्त्री चक्र से शकट का सहारा लिये बैठे थे।

महामन्त्री ने अनुभव किया, आज सर्वाधिक दुखी और संतप्त कौन है? राजमहिषी नहीं, महाबली नहीं, वह थे भरत। भरत के अन्तर की वेदना अभी तक नेत्रों से झर रही थी। महामन्त्री के मन का ताप भी कम नहीं था, परन्तु युद्ध में एक भी जीवन नष्ट नहीं हुआ, दोनों भ्राताओं ने एक दूसरे को क्षमा कर दिया, यह तथ्य उन्हें आश्वस्त कर कर रहा था। बाहुबली की क्षमा ने और भरत के पश्चाताप ने इक्ष्वाकु वंश की मर्यादा बचा ली थी। दोनों भ्राताओं के मिलन से ऋषभदेव की कीर्ति पर लगता हुआ कलंक धुल गया था। अब अयोध्या लौटकर राजमाताओं के सम्मुख खड़े होने का साहस उनमें लौट आया था।

श्मशान की शान्ति जैसी उस निस्तब्धता को सर्वप्रथम महामन्त्री ने ही भंग किया। भरत के हाथ अपने हाथों में लेकर झकझोरते हुए उन्होंने सम्राट को सान्त्वना देने का प्रयास किया—

'होनहार तो होकर रहती है महाराज। होनी का टाल सके या उसे परिवर्तित कर सकें, ऐसी शक्ति त्रैलोक्य में किसी के पास नहीं। जो घट जाता है। उसमें हर्ष विषाद का अनुभव, सुख-दुख का वेदन, दीनचित्त हम लोग अपनी कषाय के अनुरूप करते हैं। यही कर्म की अधीनता है। किन्तु धीर पुरुष घटनाओं से विचलित नहीं होते। हर्ष विषाद से ऊपर उठकर समता दृष्टि से कर्मोदय का कौतुक, वे साक्षी बनकर देखते हैं। यही सम्यक पुरुषार्थ है।

—बाहुबली लोकोत्तर व्यक्ति हैं। उन जैसे क्षमाशील भ्राता के अग्रज होकर आप धन्य हो गये। अपनी भूल का तत्काल परिमार्जन करके आपने भी अलौकिक सरलता का परिचय दिया। आप जैसा निर्मल चित्त, निर्लेप वंशज प्राप्त करके मनु महाराज का वंश धन्य हो गया। आप दोनों भ्राताओं की जीवन-ज्योत्स्ना से ऋषभदेव की कीर्ति का पारावार कल्पान्त तक तरंगित रहेगा।'

—आप चक्रवर्ती हैं महाराज। साम्राज्य का संरक्षण और प्रजा का पालन आपका कर्तव्य है। पोदनपुर के युवराज, अयोध्या के अमात्य, सब आपके आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। दिग्विजय के यात्रा थकित सैनिक घर लौटकर विश्राम के आकांक्षी हैं। इन्हें उपकृत कीजिए स्वामी।'

कर्तव्य की ओर ध्यान जाते ही भरत का ताप कम हुआ। अपनी

स्थिति का भान करके वे आगे बढ़े। अनुज-वधू के भाग्य की सराहना करते हुए उन्होंने उसे सान्त्वना दी। महाबली के सिर पर हाथ फेरकर अपना स्नेह जताया। कुछ समय के लिए अयोध्या चलने का उनसे अनुरोध किया। पोदनपुर के अमात्यों को राज्य की व्यवस्था के लिए आदेश दिये। सैनिकों को उपहार आदि देकर सभी को वापस लौटाया। अश्वारोहियों के साथ महामन्त्री को बाहुबली का वृत्तान्त लेते हुए अयोध्या पहुँचने का निर्देश दिया। फिर अपने सैन्यदल के साथ, खिन्न चित्त वे चक्रवर्ती गुमसुम और चुपचाप अयोध्या की ओर लौट चले।

लौटती सेना ने अयोध्या में प्रवेश किया। बिना रुके चक्ररत्न आयुध-शाला में पहुँच गया। अयोध्या का राजकाज सामान्य गति से सचालित होने लगा, किन्तु भरत का मन अपनी खोई शान्ति प्राप्त नहीं कर सका। बाहुबली की पीड़ा और अपने नीतिविरुद्ध आचरण की ग्लानि उन्हें आठों याम कुरेदती रहती थी। अपने ही अपराध के पश्चात्ताप में वे प्रति समय डूबे रहते थे।

मुनिदीक्षा लेकर बाहुबली कठोर तपश्चरण में लीन हो गये थे। सुदूर पर्वत के शिखर पर पाषाण प्रतिमा की तरह स्थिर, वे नग्न दिगम्बर मौन एकाकी ध्यानस्थ खड़े थे। दिन और रात, सप्ताह और मास, व्यतीत होते जा रहे थे, किन्तु एक बार भी उनकी ध्यान समाधि टूटी नहीं थी। भरत प्रायः उनके दर्शन के लिए जाते, चरणों की वन्दना करते दो चार घड़ी तक उनके समक्ष बैठे रहते, परन्तु निराश लौट आते थे। बाहुबली की एक चितवन के लिए उनके मुख के दो बोल सुनने के लिए अपने हाथ से उन्हें दो अंजुरी आहार देने के लिए भरत तरस रहे थे। एकान्त के क्षणों में प्रायः उनके मुख से निकल जाता—'इतनी क्षमा कैसे प्रकट कर ली भ्रात? ऐसी समता कहाँ से बटोर लाये बाहुबली? यह एकाग्रता कैसे पायी योगिराज?' भरत का सारा चिन्तन बाहुबलीमय हो रहा था।

पूरी तन्मयता के साथ भरत साम्राज्य के सचालन का प्रयत्न करते थे। प्रमाद रहित होकर प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों की परिपालना करते थे। परन्तु इस सब में कोई रस कोई उत्साह, कोई आनन्द, उनके लिए शेष नहीं था। उनका अधिकांश काल चिन्तन में ही बीतता था। वे मितभाषी हो गये थे। शुभ अशुभ घटनाओं के प्रति उनका दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया था। उनकी चिन्ताधारा अन्तर्मुखी हो गयी थी।

अयोध्या में दिग्विजय की वर्षगाँठ मनाने की आयोजना हो रही थी। एक वर्ष पूर्व पोदनपुर की सीमा से लौटकर, अयोध्या की सेना ने

निस्तब्ध नगर प्रवेश किया था। किसी प्रकार का समारोह राग रग उस समय नहा हो सका था इसलिए प्रजाजना न समारोहपूर्वक वषगाठ मनाने की अभिलाषा प्रकट की थी। प्रजा का उत्साह देखकर भरत ने बाधा नहीं दी परन्तु मन उनका उदास था। तीन चार दिन से व कुछ अधिक गम्भीर थे।

महोत्सव म अभी दो सप्ताह का समय था परन्तु कलाकारो, नतको गायको क यूथ अयोध्या के अतिथिगृहो म पहुँचना प्रारम्भ हो गये थे। अमात्यो ने विचार किया राजसभा म सगीत का आयोजन किया जाय। आगन्तुक कलाकारो मे अनेक प्रसिद्ध सगीतज्ञ और वीणावादक हैं। उनकी कला स सम्भव है कला ममज्ञ सम्राट की उदासी कुछ कम हो। महाराज यदि ऐसे ही उदासीन बने रहे तो नगर म महोत्सव की सयोजना व्यथ हो जायगी।

दूसरे ही दिन राजसभा म उन सिद्धहस्त कलाकारो की सगीत सभा बुलाई गयी। आयोजन का प्रयोजन भरत से छिपा नहा रहा। अमात्यो के आग्रह पर व उस सभा म उपस्थित भी रह परन्तु चित्त उनका कही और था। अनक विख्यात कलाकारो न गायन प्रस्तुत किया। वीणा पर स्वरो की सुन्दरतम अवतारणा की, सगीत क सूक्ष्मतम अभिप्रायो का लयताल म बाँध दिया परन्तु भरत की खिन्नता तनिक भी कम होती दिखाई नहीं दी। जसे जसे वे कलाकार अपन कौशल का प्रदशन करते वस ही वसे भरत अपने भीतर विचारो की समाधि म डूबते चले जाते थे। वे विचारते थ—

सगीत की स्वर लहरी स अवसाद का कोहरा छट जाता है दुख की परतें छिन भिन्न हो जाती हैं। कितने दयालु हैं हमारे सभासद कितने उदार हैं ये कलाकार, जो हमारा दुख हरने के लिए इतना परिश्रम कर रहे हैं। किन्तु कितना गहरा है हमारा दुख, जो इतने प्रयत्ना से भी घटता नहीं है। कितना घना है हमारा अवसाद जो स्वर की रश्मियो से भी कटता नहीं है।

उन्हे स्मरण आ रहा था प्रात काल उपवन के बाहर देखा वह दृश्य जहाँ वक्ष के नीचे चीथडो म लिपटा एक अधनगा-सा भिखारी तन्तुवाद्य बजाता हुआ, अपने ही स्वरो स आनन्दित मगन होकर नाच रहा था। राजसभा म बठे हुए सम्राट को पथ के उस भिखारी के भाग्य पर ईर्षा हो रही थी जिसके दुख के उपचार के लिए एक इकतारा ही पर्याप्त था। अपना दुख उन्हें उस विपन्न के दुख से सहस्रगुना अधिक लग रहा था। भरत ने दूसरे ही दिन समवसरण म जाकर भगवान् ऋषभदेव के दशन

करने का संकल्प किया। संगीत सभा जब तक समाप्त नहीं हुई, कर्तव्य निर्वाह के लिए भरत उस सभा में उपस्थित रहे।

भगवान् का समवसरण दूर नहीं था। पूरे परिकर के साथ वहाँ पहुँचकर सम्राट ने भाव सहित भगवान् की अर्चना और भक्ति की। धर्मसभा में बैठे हुए उनके मन में वहाँ भी बाहुबली का स्मरण हुआ। आज भरत अपनी आकुलता दबा नहीं पाये। अपने मन की अधीरता उन्होंने भगवान् के सामने व्यक्त कर दी—

'इतना समय हो गया नाथ! बाहुबली की समाधि एकबार भी नहीं खुली। आहार, निद्रा, विश्राम सब कुछ छोड़कर यह कैसी कठोर साधना कर रहे हैं हमारे अनुज? कब पूर्ण होगी उनकी आराधना?'

त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ ऋषभदेव की अनक्षरी दिव्य ध्वनि में भरत की जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत हुआ—

'बाहुबली की साधना लोकोत्तर है भरत। उन्होंने बारह मास का 'प्रतिमा योग' धारण किया है। उनकी समाधि खुलने में अभी बारह दिन शेष हैं। इस ध्यानकाल में उन्होंने आत्मचिन्तन किया है, सत्य का शोधन किया है। आत्मा के उत्कर्ष की भूमिका प्राप्त कर ली है। किन्तु कभी-कभी तुम्हारे मनस्ताप की स्मृति उनकी एकाग्रता को खण्डित कर जाती है। 'मैं भरत के क्लेश का कारण बना' आज भी यह टीस रह रहकर उनके मन में कसक जाती है। इसी पर चिन्ता के कारण बाहुबली की साधना-बेलि में कैवल्य का पुष्प अभी तक लग नहीं सका।'

सुनकर भरत अवाक् रह गये—'राग के बन्धन कितने दीर्घजीवी हैं कितने शक्तिशाली हैं! मैं सोचता हूँ यह भरत उनका अपराधी है। वे विचारते हैं कि वे मेरे क्लेश का कारण बने हैं। क्या अपने आपको एक दूसरे का अपराधी मानकर हम स्वयं अब अपना ही अपराध नहीं कर रहे हैं?' उन्होंने संकल्प किया—'बारहवें दिन बाहुबली के चरणों में बैठना है। उनकी समाधि खुलते ही अपना हृदय भी खोलकर रख देना है जिन्होंने मेरे गुरुतर अपराध क्षमा कर दिये, वे क्या अपने आपको क्षमा नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। उसी क्षण करेंगे।'

ब्राह्मी और सुन्दरी उसी धर्मसभा में विराजमान थीं। योगी चक्र-वर्ती भ्राता के दर्शन की अभिलाषा से वे भी भरत के साथ अयोध्या लौटीं। राजमाता यशस्वती और सुनन्दा, महारानी सुभद्रा, पोदनपुर की राजमाता, ब्राह्मी और सुन्दरी सबको साथ लेकर भरत बारहवें दिन बाहुबली के तपोवन में उपस्थित हुए। अयोध्या और पोदनपुर के हजारों नागरिक इस यात्रा में सम्मिलित थे।

दीक्षा लेते ही बाहुबली ध्यान लगाकर जहाँ खडे हो गये थे वरस बीत जाने पर आज भी वे वही, वैसे ही ध्यानस्थ खडे थे। उन महाकाय योगी का समाधिस्थ शरीर, पाषाण की तरह सवेदनहीन लगता था। उनके चरणो मे कुक्कुट सर्पों की बाँबियाँ बन गयी थी। कितने ही सर्प घुटनों तक उन्हें घेरे थे। शरीर पर अनेक जन्तु रेंगते दिखाई दे रहे थे। दो माधवी लता उनकी देह के सहारे चढती चली गयी थी। लता के वृन्तो ने योगी की जघाओ और भुजाओ को गूढ कुडलिया मे लपेट लिया था। आधे मुदे हुए उनके नयनो की नासाग्र दृष्टि अपने ही आनन्द मे खोई-सी लगती थी।

पूरे परिवेश मे अहिंसा और प्रेम का साम्राज्य था। मृग और मृगराज, नाग और मयूर, वृषभ और व्याघ्र सभी वहा एक साथ विचरते थे। उन अनुपम तपस्वी का दर्शन करके सबके मनो मे श्रद्धा, भक्ति और प्रेम की निर्झरिणी फूट पडी। राजमुकुट उन चरणो मे रखकर भरत उन महायोगी की स्तुति करने लगे। बाहुबली का जयकार करते हुए परिकर के सभी जन उनकी सेवा मे लग गये। माताओ ने शरीर पर से जीव-जन्तुओ को हटाया सहोदराओ ने लताओ के वृन्त खीच खीचकर उन्हें वनस्पति के बन्धन से मुक्त किया जयमजरी ने बाँबी की मृत्तिका हटाकर चरणो का प्रक्षाल किया। पुत्रो ने वन की भूमि को स्वच्छ और कटकरहित किया। प्रजाजनो ने उनकी वदना का उत्सव मना लिया।

स्तुति समाप्त करके भरत ने अपना मस्तक बाहुबली के चरणो पर रख दिया। तभी वह शुभ घडी प्रकट हो गयी। योगेश की समाधि सम्पन्न हुई। शरीर मे किंचित्-सा स्पन्दन हुआ, नेत्रो के पलक थोडे से खुले। हर्ष की एक लहर सबके मन को छू गयी। भरत मुखर हो उठे—

'तुम्हारा सकल्प धन्य है प्रभु! सचमुच अधूरी आकाक्षाओ से अतृप्त मन को मोडना वैराग्य नही है। कामना-पूर्ति के समस्त साधनो की उपलब्धि के बीच उनकी नश्वरता को अनुभव कर लेना, मन को उनसे असपृक्त कर लेना ही वैराग्य है।'

'दर्शन से तन मन सफल हुआ स्वामिन! आज मेरे समस्त क्लेश मिथ्या हो गये। मोह से बडा अपराध ससार मे कुछ नही है। यहा कोई किसी का अपराधी नही, उस मोहचक्र से प्रेरित हम सब, अपने ही अपराधी हैं। कोई किसी को क्षमा भी क्या करेगा? अपने आपको क्षमा कर देना ही उत्तम क्षमा है। आपने वह क्षमा प्राप्त कर ली है मुनिनाथ! आपकी जय हो।'

स्तवन के शब्द बाहुबली के कानों से टकराये। भरत के संक्लेश की चिंता उनकी चेतना से तिरोहित हो गयी। साधना ने सफलता का शिखर छू लिया। उपलब्धि के आनंद से चमकते हुए नेत्र अर्द्धमीलित मुद्रा में स्थिर हो गये। बाहुबली ने अर्हत् पद प्राप्त कर लिया। उन्हें केवल ज्ञान उपलब्ध हो गया। वे सर्वज्ञ हो गये। अनिरुद्ध चेतना का अनन्त आलोक उनके अंतर में प्रकट हो गया।

भरत के आनंद का सागर सीमा तोड़कर बिखर पड़ा। वे हर्ष से नाच उठे। सभी लोग अर्हत् बाहुबली की अर्चना में मग्न हो गये। माताओं ने स्तवन किया। बहिनों ने गुणगान किया। जयमंजरी ने आरती उतारी। पुत्रों ने चंवर डुलाये। प्रकृति उनके अनुपम आनंद की सहभागी बनकर मुकुलित हो उठी। लताओं पर पुष्प खिल उठे। शाखाएँ फलवती हो गयीं। वन के जीव जन्तु मोदमग्न होकर विचरने लगे। देवों की मंगल ध्वनि बाहुबली के कैवल्य का समाचार लेकर दिग्दिगंत में फैल गयी।

अयोध्या में विजयोत्सव का उत्साह सौगुना हो गया। उस समारोह में सर्वाधिक आनंदित व्यक्ति का नाम था 'भरत'।



२५ बाहुबली विलक्षण व्यक्तित्व

सवन बाहुबली की पूजा अर्चना के लिए असंख्य नर-नारी उस तपोवन मे आने लगे। कई दिन तक यह क्रम चलता रहा। अरिहन्त अवस्था प्राप्त हो जाने पर उनका शरीर सप्त धातुओं की उत्पत्ति से रहित, पवित्र और दिव्यता सम्पन्न हो गया था। शरीर में नखों केशों का बढना रुक गया था। क्षुधा तृषा, विस्मय जिज्ञासा, क्लान्ति और स्वेद आदि सभी दैहिक और मानसिक विकारों का उनमे अभाव था। अनेक स्थानों पर विहार करते हुए, अन्त में एक दिन जब वे ऋषभदेव की धर्म-सभा में विराजमान थे उनकी भवस्थिति समाप्त हो गयी। बाहुबली का निर्वाण हो गया। उनकी निर्विकार आत्मा जन्म मरण से छूटकर लोक के शिखर मे अनन्तकाल के लिए स्थित हो गयी। शरीर सूक्ष्म रूप मे परिणत होकर कपूर की तरह अदृश्य हो गया।

भरत ने कर्मोदय की बाध्यता मानकर दीर्घकाल तक निस्पृहतापूर्वक वात्सल्य भाव से प्रजा का पालन करते हुए पृथ्वी का शासन किया। चक्र के नियोग से जो उपद्रव उत्पन्न हुए थे उनसे शिक्षा लेकर फिर कभी उन्होंने परिग्रह की मूर्च्छा को अपनी चेतना पर अधिकार नहीं करने दिया। वे सतत सावधान रहे। राजकाज की व्यस्तता मे और राग रंग की तल्लीनता में रमता हुआ भी उनका मन कभी उनमें डूबा नहीं। कमल के पत्र की तरह वे सदा उन परिग्रहों के ऊपर, उनसे निर्लेप ही रहे। राजर्षि भरत ने राग में भी विराग की प्रतिष्ठा करके दिखा दी। राज्यानुशासन में आत्मानुशासन की साधना सफल कर ली। इसी दीर्घ साधना का फल था कि जिस दिन उन्होंने राज्य त्याग कर मुनि-दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन उसी समय उनकी अनन्त शक्तियां प्रकट हो गयी। अरिहन्त पद की प्राप्ति के लिए आत्म-साधक भरत को एक दिन भी तप-

साधना करने की आवश्यकता नही पडी।

हुण्डावसर्पिणी के दुष्प्रभाव से, इस चौथे काल म अनेक मर्यादाओ का खण्डन हुआ। अनेक परम्पराएँ टूटी हैं। सयोग की बात है कि उनम से अनेक परम्पराओ के खण्डन मे कही न कही बाहुबली का व्यक्तित्व जुडा रहा है। इसी कारण वे लोक मानस मे पूज्य पुरुष की तरह स्थापित हो गये। उन्हे लोकोत्तर सम्मान का पात्र माना गया।

मोक्ष माग के प्रथम पथिक

यह एक मर्यादा है कि युग के प्रारम्भ मे, प्रथम तीर्थंकर के मोक्ष जाने के पूव किसी साधक का निर्वाण नही होता। तीयकर ही उस महामाग के प्रथम पथिक होते है। परन्तु इस काल मे प्रथम तीथकर ऋषभदेव के मुक्त होने के पूव ही बाहुबली ने मोक्ष प्राप्त कर लिया।

काल का व्यतिक्रमण

भवसागर से पार होकर मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया केवल चौथे काल म ही सम्भव होती है। परन्तु इस हुण्डावसर्पिणी म काल की उस मर्यादा का भी उल्लघन हुआ। बाहुबली जब मोक्ष गये तब चौथा काल प्रारम्भ नही हुआ था। तीसरे काल का कुछ समय शेष था।

चक्रवर्ती का मान भजन

चक्रवर्ती नरेश अपने समय का सवशक्तिमान, सवश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रभुता सम्पन्न महापुरुष होता है। उसका मान अभग ही रहता है। जीवन मे किसी भी क्षेत्र म पराजय की पीडा से, उसका परिचय कभी होता ही नही। परन्तु इस बार इसका भी अपवाद प्रस्तुत हुआ। परम वीर, स्वाधीनता-सम्राट् बाहुबली के हाथो, उनके ही अग्रज चक्रवर्ती सम्राट भरत को एक बार नही, चार बार पराजित होना पडा। उनकी दिगन्त विजयिनी चतुरगिणी के समक्ष, उनकी प्रजा की आखो के सामने ही उनका मान मर्दित हुआ। देवी शक्तियो द्वारा सरक्षित उनका विश्व-विजयी चक्र भी पराजय के दारुण दुख से उन्हे त्राण देने म असमथ रहा।

अनुपम योग-साधना

दीघकाल तक एक ही आसन से अडिग निष्कम्प ध्यानस्थ होने का कीर्तिमान भी सदव प्राय तीथकर मुनीशो ने ही स्थापित किया है।

परन्तु इस बार सामान्य साधक बाहुबली ही उस क्षेत्र में भी असामान्य सिद्ध हुए। आदिनाथ भगवान् ने दिगम्बरी दीक्षा लेते ही छह मास तक उपवासपूर्वक एक आसन से समाधि लगायी थी। उनके पश्चात् किसी भी तीर्थंकर ने, या सामान्य साधक ने, तपश्चरण की ऐसी महानता को प्राप्त नहीं किया। परन्तु बाहुबली ने दीक्षा धारण करते ही अडिग अकम्प प्रतिमायोग का अवलम्बन लिया और पूरे एक वर्ष तक फिर पलक भी नहीं उठायी। ऐसी दीर्घ, निष्कम्प साधना का कोई दूसरा उदाहरण तपश्चरण के इतिहास में नहीं मिलता।

क्षमा वीरस्य भूषणम्

पिता के द्वारा प्राप्त अपने छोटे से राज्य की सार्वभौमिकता अक्षुण्ण रखने के लिए बाहुबली ने अपने अग्रज चक्रवर्ती सम्राट भरत की युद्ध चुनौती को निर्भयतापूर्वक स्वीकार किया, यह उनके अजेय पौरुष का प्रतीक था। अतिक्रमण की भावना से लिप्त भरत को पराजित करने के उपरान्त, उन्होंने अपने अग्रज के अनीति भरे आचरण के प्रति तत्काल क्षमा भाव धारण कर लिया, यह उनकी अनुपम क्षमाशीलता का उदाहरण था।

अद्भुत वैराग्य

कौटुम्बिक कलह की इस घटना में स्वार्थी संसार की घृणित प्रवृत्तियों का यथार्थ अवलोकन करके बाहुबली ने वैराग्य धारण किया। अद्भुत एकाग्रतापूर्वक दीर्घतम काल तक वे अडोल अकम्प ध्यानस्थ रहे, यह उनकी लोकोत्तर साधना का प्रमाण था। अपने युग के वे प्रथम मोक्षगामी महापुरुष हुए, यह उनके व्यक्तित्व की एक और उल्लेखनीय विशेषता थी।

बाहुबली की इन्हीं विशेषताओं ने उनके व्यक्तित्व के इन्हीं विलक्षण पक्षों ने, जन-मानस में उनके लिए इतनी श्रद्धा एवं शक्ति भावना उत्पन्न कर दी, कि कालान्तर में तीर्थंकरों के ही समान उनकी भी पूजा प्रतिष्ठा होना प्रारम्भ हो गयी। अनीति पर नीति की, और असद् पर सद् की विजय के लिए, प्रतीक पुरुष की तरह उन्हें मान्यता प्राप्त हुई।

यदि बाहुबली अपनी प्रतिभा के द्वारा अद्वितीय महापुरुष हुए तो यह भी उतना ही सत्य है कि संसार द्वारा उन्हें दिया गया मान-सम्मान और श्रद्धा भी अद्वितीय ही है। मोक्ष-पथ के किसी सामान्य साधक ने इतनी

पूज्यता और कीर्ति अर्जित की हो, ऐसा कोई अन्य उदाहरण पुराणों में भी उपलब्ध नहीं है।

यही कारण है कि बाहुबली की प्रतिमा बनाई जाती है और तीर्थंकर प्रतिमाओं के समान ही उनकी पूजा की परम्परा है।



२६ बाहुबली की मूर्तियाँ

रूपकार ने अब तक बाहुबली की एक भी प्रतिमा का निर्माण नहीं किया था। अपने पिता से भी इस दिशा में उसे कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। तीर्थंकरों की भी अधिकांशतः पद्मासन या पर्यंकासन प्रतिमाएँ ही अब तक उसने बनायी थीं। खड्गासन मूर्तियाँ बहुत थोड़ी बहुत छोटे आकार की बनाने का अवसर उसे मिला था।

वैसे तो तुम्हारे चौबीस तीर्थंकरों में से केवल, प्रथम ऋषभदेव बारहवें वासुपूज्य और बाईसवें नमिनाथ तथा चौबीसवें महावीर ही पद्मासन या पर्यंकासन से मुक्त हुए हैं। शेष तीर्थंकरों ने खड्ग के समान सीधे खड़े हुए खड्गासन या कायोत्सर्ग आसन में ही अन्तिम ध्यान किया है, आदिनाथ का और महावीर का आसन होने के कारण यह पद्मासन या पर्यंकासन तुम लोगों को अधिक प्रिय हुआ। पर तुम्हारी कला-परम्परा में आसन का कोई निर्धारित क्रम कभी नहीं रहा। अपनी योजना और सुविधा के अनुसार प्रायः सभी तीर्थंकरों की, पद्मासन और खड्गासन, दोनों प्रकार की प्रतिमाएँ तुम्हारे शिल्पी प्रारम्भ से ही बनाते रहे। एक ही अपवाद हुआ कि बाहुबली को सदैव खड्गासन में ही अंकित किया गया। दीक्षा धारण करने के उपरान्त मोक्ष जाने तक वे महाबली, उसी एक आसन से खड़े ही रहे कभी बैठे नहीं। सम्भवतः इसीलिए उनकी मूर्तियाँ पद्मासन मुद्रा में कभी नहीं बनायी गयीं। आज तक भी नहीं।

नेमिचन्द्राचार्य, जैन आगम के जैसे पारगामी विद्वान् थे जैन संस्कृति का भी उन्हें वैसा ही विशद अभ्यास था। दक्षिणावर्त में तो वे निरन्तर भ्रमणशील रहते ही थे उत्तरापथ में भी उनका घनिष्ट सम्पर्क था। दूर-दूर तक उनके शिष्यों, अनुयायियों और भक्तों का निवास था।

पूज्यता और कीर्ति अर्जित की हो, ऐसा कोई अन्य उदाहरण पुराणों में भी उपलब्ध नहीं है।

यही कारण है कि बाहुबली की प्रतिमा बनाई जाती है और तीर्थंकर प्रतिमाओं के समान ही उनकी पूजा की परम्परा है।



२८ बाहुबली की मूर्तियाँ

रूपकार ने अब तक बाहुबली की एक भी प्रतिमा का निर्माण नहीं किया था। अपने पिता से भी इस दिशा में उसे कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। तीर्थंकरों की भी अधिकांशतः पद्मासन या पर्यंकासन प्रतिमाएँ ही अब तक उसने बनायी थीं। खड्गासन मूर्तियाँ बहुत थोड़ी, बहुत छोटे आकार की बनाने का अवसर उसे मिला था।

वैसे तो तुम्हारे चौबीस तीर्थंकरों में से केवल, प्रथम ऋषभदेव, बारहवें वासुपूज्य और बाईसवें नेमिनाथ तथा चौबीसवें महावीर ही पद्मासन या पर्यंकासन से मुक्त हुए हैं। शेष तीर्थंकरों ने खड्ग के समान सीधे खड़े हुए खड्गासन या कायोत्सर्ग आसन से ही अन्तिम ध्यान किया है, आदिनाथ का और महावीर का आसन होने के कारण यह पद्मासन या पर्यंकासन तुम लोगों का अधिक प्रिय हुआ। पर तुम्हारी कला-परम्परा में आसन का कोई निर्धारित नियम कभी नहीं रहा। अपनी योजना और सुविधा के अनुसार प्रायः सभी तीर्थंकरों की, पद्मासन और खड्गासन, दोनों प्रकार की प्रतिमाएँ तुम्हारे शिल्पी प्रारम्भ से ही बनाते रहे। एक ही अपवाद हुआ कि बाहुबली को सदैव खड्गासन में ही अंकित किया गया। दीक्षा धारण करने के उपरान्त मोक्ष जाने तक, वे महाबली, उसी एक आसन से खड़े ही रहे कभी बैठे नहीं। सम्भवतः इसीलिए उनकी मूर्तियाँ पद्मासन मुद्रा में कभी नहीं बनायी गयीं। आज तक भी नहीं।

नेमिचन्द्राचार्य जैन आगम के पारगामी विद्वान् थे जैन संस्कृति का भी उन्हें वैसा ही विशद अभ्यास था। दक्षिणापथ में तो वे निरन्तर भ्रमणशील रहते ही थे, उत्तरापथ से भी उनका घनिष्ट सम्पर्क था। दूर-दूर तक उनके शिष्यों, अनुयायियों और भक्तों का निवास था।

प्रतिवर्ष उत्तर के विभिन्न जनपदों से भी शतशः मुनि, त्यागी और गृहस्थ दक्षिणावर्त की ओर आते रहते थे। इसी कारण पूरे भारतवर्ष के जैन स्थापत्य और मूर्तिकला के प्राचीन वैभव से वे आचार्य पूर्णतः परिचित थे। उसकी अधुनातन उपलब्धियों का लेखा-जोखा भी उनके पास था।

चामुण्डराय और रूपकार के समक्ष, एक दिन आचार्यश्री ने, अब तक ज्ञात उन सभी बाहुबली प्रतिमाओं का सूक्ष्म निरूपण किया।

यहीं कर्नाटक में ही, बदामी पर्वत के शैलगृह में और एहोल के गुहा मन्दिरों में पुरुषाकार से भी अधिक ऊँची बाहुबली मूर्तियाँ उन्होंने स्वयं पाषाण में उत्कीर्ण देखी थीं। ऐहोल के भित्ति चित्रों में भी बाहुबली का रंग चित्रण उनकी दृष्टि में आया था। राष्ट्रकूट कलाकारों ने अभी थोड़े ही समय पूर्व अपनी छेनी और तूलिका से इनका अंकन किया था। एलोरा की गुफाओं में भी बाहुबली की ऐसी ही लतावेष्टित मूर्तियाँ उत्कीर्ण हो चुकी थीं।

बाहुबली की एक सप्तधातु की प्रतिमा भी इस बीच निर्मित हो चुकी थी। उस समय यहीं, मेरे ही मस्तक पर, चन्द्रप्रभु बसदि में एक हाथ से अधिक अवगाहन वाली वह मूर्ति विराजमान थी। उस समय उसका निर्माण हुए भी लगभग एक शताब्दी का समय व्यतीत हो चुका था। अनेक शताब्दियों तक इस ग्राम में लोगों को उस कलाकृति का दर्शन होता रहा, परन्तु कालान्तर में तुम्हारे किसी साधर्मी (?) ने उसे एक प्राचीन कला संग्रहालय में पहुँचा दिया। वह प्रतिमा, तुम्हारे देश में बाहुबली की, धातुनिर्मित प्राचीनतम कलाकृति है।

उत्तर भारत में उपलब्ध बाहुबली प्रतिमाओं के संदर्भ में भी, उस दिन वहाँ विचार किया गया। मथुरा नगर जैन स्थापत्य का प्राचीनतम केन्द्र था। कुषाण काल से अब तक वहाँ निरन्तर जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ, परन्तु एक भी बाहुबली बिम्ब तब तक वहाँ बना नहीं था।

महावीर के निर्वाण के तीन चार शताब्दी उपरान्त, ऐल सम्राट खारवेल द्वारा ओडिसा में खण्डगिरि उदयगिरि गुहा मन्दिरों का निर्माण हुआ। वहाँ भी उस समय बाहुबली की प्रतिमाएं नहीं बनायी गयीं। दशार्ण देश में विदिशा के समीप, गुप्तकालीन जैन गुफाओं में भी बाहुबली अनुपस्थित थे।

आचार्यश्री के इस विश्लेषण से यह वास्तविकता प्रकट थी कि भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त, लगभग बारह-सौ वर्ष तक बाहुबली प्रतिमा के निर्माण की ओर तुम्हारे पूर्वजों का ध्यान नहीं गया। अतीत में भरतराज द्वारा स्थापित वह सवा पाँच-सौ धनुष ऊँची प्रतिमा,

बाहुबली की प्रथम मूर्ति थी, पर वर्तमान में बाहुबली-मूर्तियों का निर्माण अभी दो तीन-सौ वर्ष पूर्व सर्वप्रथम इसी कर्नाटक देश में प्रारम्भ हुआ था और अब सारे देश में उसका प्रचार हो रहा था।

मध्य देश की पुष्पावती नगरी के आदिनाथ जिनालय में देवगढ़ के गुरुदत्तगिरि पर शान्तिनाथ जिनालय में और खजुरवाहक के पार्श्वनाथ मन्दिर की अन्तरंग परिक्रमा में, बाहुबली प्रतिमाओं का निर्माण तब तक हो चुका था। पुष्पावती नगरी का नाम अब तुम लोगों ने बिलहरी कर लिया है। आज का तुम्हारा विख्यात कलातीर्थ खजुराहो ही तब का खजुरवाहक है।

इस प्रकार उत्तर भारत में कलचुरी प्रतिहार और चन्देल कलाकारों ने अपनी कला में बाहुबली की अवतारणा अभी थोड़े ही दिन पूर्व प्राय: एक ही साथ प्रारम्भ की थी। इन तीनों ही बाहुबली बिम्बों के आकार-प्रकार में, इनकी रचना-संयोजना में अद्भुत समानता थी। इनकी अवगाहना दो हाथ से कम ही थी। इन प्रतिमाओं की एक विशेषता सुनकर उस दिन मुझे मोद हुआ था कि इनमें बाहुबली के शरीर पर भुजाओं का आवेष्टित करती बेलों के साथ-साथ रेंगते हुए विषधर नाग और वृश्चिक भी अंकित किये गये थे। विषधरों के इस भाँति अंकन से उन महातपस्वी का एकासन तपश्चरण इन प्रतिमाओं में अवश्य ही अधिक जीवन्त हो उठा होगा।

इतना प्रचार होने पर भी बाहुबली की ये समस्त प्रतिमाएँ मन्दिरों की दीवालों में या उपवेदिकाओं पर ही पाई गयी थीं। मूलनायक की तरह मन्दिरों की प्रमुख वेदिका पर इनकी स्थापना अभी प्रारम्भ नहीं हुई थी। आकार में भी ये सामान्य ही थीं।

आचार्य महाराज अनुभव करते थे कि इन उपलब्ध प्रतिमाओं में एक भी ऐसा सानुपातिक बाहुबली विग्रह नहीं था जिसे आदर्श मानकर विन्ध्यगिरि पर उनकी मनवांछित प्रतिमा का वपण प्रारम्भ किया जा सकता। चामुण्डराय और रूपकार से बार-बार वे ऐसा कहते, सरस्वती को पुन: पुन: अपनी कठिनाई बताते कि जिस तीव्र दुर्लभ धृति और क्षमा-शीलता के कारण बाहुबली उपास्य हुए, जिस अपराजेय दृढ़ शक्ति और अपार अभ्यन्तर उदारता ने लोकमानस में उन्हें तीर्थंकरों के समकक्ष स्थापित कर दिया, जिस आत्म-आनन्द के चिन्तन और अनुभूति ने उन्हें बारह मास तक पलक उठाने तक का भी अवकाश नहीं दिया, बाहुबली की उन सब अलौकिक विशेषताओं का स्पष्ट अंकन करके दिखाना ही प्रस्तावित प्रतिमा का अभिप्राय है। वह विशेषताएँ देश की किसी भी

प्रतिमा में, अभी तक वहाँ भी एक साथ उपलब्ध नहीं है।

उस दिन मैंने अनुभव किया पथिक, कि अपनी कल्पना के स्वरूप को उजागर करके, रूपकार का मार्गदर्शन करने के लिए आचार्यश्री का मन कितना व्यग्र था। बहुत ऊहापोह के उपरान्त यही निर्णय उन्होंने किया कि एक सर्वथा नवीन कल्पना के आधार पर, सीमित परिकर के साथ, बिलकुल अनोखी भावमुद्रा से युक्त प्रतिमा के निर्माण का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर होगा।

आचार्यश्री ने रूपकार को इस प्रकार समझाया —'जैसे कोई तुम्हें यहीं, इसी स्थान पर, समुद्र का परिचय कराना चाहे, तो वह क्या उपाय करेगा? किसी पात्र में समुद्र का जल यहाँ उपस्थित करके, समुद्र के कुछ गुण तुम पर व्यक्त कर भी दे उसका द्रवत्व, उसका घनत्व और उसका खारापन तुम्हें जता भी दे, तो भी समुद्र की उत्ताल तरंगमाला, या उसकी निस्तरंग निस्तब्धता, उसकी अगम गम्भीरता और अपार विस्तार, एक छोटे-से पात्र में वहाँ से प्रकट करेगा तुम्हारे लिए? वे समस्त गुण तो सागर की विशालता में ही प्रकट दिखाई देंगे।

— इसी प्रकार भगवान् बाहुबली की सौम्य मुद्रा, ध्यानस्थ आकृति और तन से लिपटी माधवी लताएँ कितने ही सौष्ठवपूर्वक इन सामान्य आकार की मूर्तियों में अंकित की गई हों, परन्तु उनके व्यक्तित्व की विराटता उनका अडिग अपराजेय पौरुष उनके अनासक्त मन की उज्ज्वलता और मन की वृत्तियों पर उनका अपार संयम, अंकित करने के लिए ये छोटे-छोटे उपादान ही अपर्याप्त थे। बाहुबली के किसी विराट रूप की अवतारणा किये बिना उन महानताओं का शिलांकन सम्भव कैसे हो सकता है। अतः उनकी सब विलक्षण विशेषताओं का चिन्तन करते हुए विन्ध्यगिरि की शिला का तक्षण प्रारम्भ करना होगा। स्वयमेव वह अद्भुत व्यक्तित्व, अपनी समस्त महानताओं सहित वहाँ मूर्तिमान होगा, अवश्य होगा। हमारी कल्पना को साकार करने का यही उपाय है।

बाहुबली की प्रतिमा के निर्माण का ऐतिहासिक हेतु समझ लेने के उपरान्त, उस धातु विग्रह का अवलोकन कर लेने पर, आचार्यश्री का उपरोक्त निर्देश श्रवण करने पर और तपस्वी बाहुबली की विशेषताओं का परिचय मिल जाने पर, रूपकार की कल्पना में उनका स्वरूप स्पष्ट होने लगा। आचार्य महाराज द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावित प्रतिमा की वह प्रथम रेखानुकृति अब उसे अच्छी तरह समझ में आने लगी। वह बार-बार बाहुबली का ही चिन्तन करके उनके व्यक्तित्व को अपनी कल्पना में सांगोपांग साकार कर लेने में संलग्न हो गया। विन्ध्यगिरि की शिला पर अभी

तक्षण का बहुत स्थूल कार्य चल रहा था। मूर्ति को उकेरने के पूर्व अभी वहाँ से बहुत-सा पाषाण कोरकर निकालने की आवश्यकता थी। शिला को रूपाकार प्रदान करके प्रतिमा के रूप में गढ़ने का काम अभी दूर था, पर रूपकार यथाशीघ्र उस मूर्ति के लिए एक आदर्श की निश्चित कल्पना कर लेना चाहता था।

विराजमान गहन गम्भीरता अवश्य कभी-कभी रूपकार को खटक जाती थी। वह अपनी कृति में एक भोली स्मित रेखा का अकन करना चाहता था। बाहुबली के आन्तरिक ऐश्वय का सकेत एक निर्दोष मुस्कान के द्वारा उनके मुख पर अकित कर देना उसका अभीष्ट था अत रूपकार एक तीसरे प्रादश की भी शोध करता रहा।

सरस्वती जब भी पवत पर आती, प्राय सौरभ भी उसके साथ होता था। छह-सात वष का वह बालक जैसा सुन्दर था वैसा ही चपल भी था। पण्डिताचाय से और अपने पिता से पूछने के लिए उसके मन मे अनन्त जिज्ञासाएँ थी। रूपकार के प्रति बालक का सकोच धीरे धीरे समाप्त होता जाता था।

एक दिन किसी तप्ति की अनुभूति मे जब सौरभ का मुख एक अनोखे आनन्द से अभिभूत था उसकी मुस्कान पर रूपकार की दृष्टि पडी। सहसा रूपकार को लगा कि आन्तरिक आनन्द की यही वह अभिव्यक्ति थी, जिसे वह कई दिनो से ढूढ रहा था। यही वह भोली निर्दोष स्मित रेखा थी, जो प्रतिमा के मुखमण्डल पर वह अकित करना चाहता था। सौरभ की इस सरल मुस्कान को हृदयगम करके रूपकार आश्वस्त हुआ। उसने निणय किया कि बाहुबली का चरित्र और उनकी चिन्तन-धारा का ज्ञान उस प्रतिमा के लिए उसके अतरग प्रेरणा-स्रोत होगे। आचायश्री की स्थिर ध्यानस्थ मुद्रा, जिनचन्द्र महाराज का तरुणाई भरा मुखमण्डल और सौरभ की निर्दोष मुस्कान, बाह्य प्रादश के रूप मे उसे प्रेरणा देंगे।

उसी क्षण से रूपकार और सौरभ की मित्रता, घनिष्ट होने लगी। अब वह प्राय अपने इस बालमित्र के लिए कभी वन पुष्पो की कोई डाल, कभी पुष्पो और फलो का कोई गुच्छक, कभी पाषाण का कोई विचित्र कृति खण्ड या कोई अन्य खिलौना अपने पास रखता था। दोनो मे घण्टो घुट घुटकर बात होती। प्रमोद के क्षणो मे प्राय रूपकार की आखें सौरभ के मुख की मनोहारी मुस्कान का पान करती रहती। कभी-कभी उस मुस्कान की एक झलक देखने के लिए रूपकार को घडी दो घडी तक अनेक प्रकार से उसका मन बहलाना पडता था। वह तरह-तरह से उस बालक की अभ्यथना करके, किसी न किसी प्रकार, उसके नेत्रो मे अनोखी चमक, और होठो पर वह मनोहर मुस्कान प्रतिदिन एकाध बार देख ही लेता था।

वसे तो पूरे कुटब के भोजन की व्यवस्था का भार सरस्वती पर ही था, पर रूपकार के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त स्नेहपूण और अपनत्व

२७ प्रादर्श की परिकल्पना

नेमिचन्द्राचाय महाराज मध्याह्न की सामायिक प्राय विन्ध्यगिरि पर ही करते थे। एकान्त स्थान मे किसी भी चट्टान पर व कायोत्सग आसन से चार-पाच घडी तक ध्यानस्थ रहते थे। रूपकार प्राय उनकी स्थिर मुद्रा का अवलोकन करता हुआ कल्पना करता कि ऐसी ही ध्यान-मग्न एकाग्र स्थिरता उसके अकन म रूपायित होना चाहिए।

अनेक बार आचार्यश्री की ध्यानस्थ मुद्रा का अवलोकन करने के उपरान्त एक दिन कुछ निकट से रूपकार ने उनके मुख का निरीक्षण किया। उस दिन कलाकार को लगा कि प्रतिमा म कामदेव बाहुबली के सौन्दय की झलक लाने के लिए उसे कोई दूसरा ही प्रादश ढूढना होगा। दीघ तपश्चरण के कारण वृद्ध और जरा-जजरित आचार्यश्री के मुख ने रूपकार को निराश ही किया। महाराज की तप पूत निर्दोष मुख मुद्रा प्रभावक तो थी परन्तु बाहुबली के शरीर के अतुल बल का प्रतिनिधित्व उस छवि के आधार पर सम्भव नही था।

आचार्यश्री के सघ मे ही अन्य साधुआ के मुखमण्डल का निरीक्षण अब इस दृष्टि से रूपकार ने किया। सहसा जिनचन्द्र महाराज पर उसकी दृष्टि अटक गयी। जिनचन्द्र अल्प वय से ही महाराज के समीप रहे थे। उनकी शिक्षा और दीक्षा आचाय महाराज के ही द्वारा सम्पन्न हुई थी। तरुण वय म उस बाल ब्रह्मचारी यति का दमकता हुआ अरुणाभ मुख-मण्डल, कलाकार को अपनी कल्पना के बहुत निकट लगा। पवत पर आते जाते तथा ध्यान करते हुए उसने अनेक बार, उनकी मुख-छवि का अध्ययन किया और उसी सौम्य सुन्दर छवि को, अपनी कृति म उतारने का सकल्प उसे प्रिय लगा।

जिनचन्द्रदेव की आकृति का अध्ययन करते समय उनके मुख पर

विराजमान गहन गम्भीरता अवश्य कभी-कभी रूपकार को खटक जाती थी। वह अपनी कृति में एक भोली स्मित रेखा का अकन करना चाहता था। बाहुबली के आन्तरिक ऐश्वय का सकेत एक निर्दोष मुस्कान के द्वारा उनके मुख पर अकित कर देना उसका अभीप्ट था, अत रूपकार एक तीसरे प्रादश की भी शोध करता रहा।

सरस्वती जब भी पवत पर आती, प्राय सौरभ भी उसके साथ होता था। छह-सात वष का वह बालक जसा सुन्दर था वसा ही चपल भी था। पण्डिताचाय से और अपने पिता से पूछने के लिए उसके मन मे अनन्त जिज्ञासाएँ थी। रूपकार के प्रति बालक का सकोच धीरे-धीरे समाप्त होता जाता था।

एक दिन किसी तप्ति की अनुभूति मे, जब सौरभ का मुख एक अनोखे आनन्द से अभिभूत था, उसकी मुस्कान पर रूपकार की दप्टि पडी। सहसा रूपकार को लगा कि आन्तरिक आनन्द की यही वह अभिव्यक्ति थी, जिसे वह कई दिना मे ढूढ रहा था। यही वह भोली निर्दोष स्मित रेखा थी जो प्रतिमा के मुखमण्डल पर यह अकित करना चाहता था। सौरभ की इस सरल मुस्कान को हृदयगम करके रूपकार आश्वस्त हुआ। उसने निणय किया कि बाहुबली का चरित्र और उनकी चिन्तन-धारा का ज्ञान, उस प्रतिमा के लिए उसके अन्तरग प्रेरणा-स्रोत होगे। आचायश्री की स्थिर ध्यानस्थ मुद्रा जिनचन्द्र महाराज का तरुणाई भरा मुखमण्डल और सौरभ की निर्दोष मुस्कान, बाह्य प्रादश के रूप मे उसे प्रेरणा देगे।

उसी क्षण से रूपकार और सौरभ की मित्रता घनिप्ट होने लगी। अब वह प्राय अपने इस बालमित्र के लिए कभी वन पुप्पो की कोई डाल, कभी पुप्पो और फला का कोई गुच्छक, कभी पापाण का कोई विचित्रा कृति खण्ड या कोई अन्य खिलौना अपने पास रखता था। दोनो म घण्टो घुट घुटकर बातें होती। प्रमोद के क्षणो मे प्राय रूपकार की आख सौरभ के मुख की मनोहारी मुस्कान का पान करती रहती। कभी-कभी उस मुस्कान की एक झलक देखने के लिए रूपकार को घडी दो घडी तक अनेक प्रकार से उसका मन बहलाना पडता था। वह तरह-तरह से उस बालक की अभ्यथना करके, किसी न किसी प्रकार, उसके नेत्रो मे अनोखी चमक, और होठो पर वह मनोहर मुस्कान प्रतिदिन एकाध बार देख ही लेता था।

वसे तो पूरे कटक के भोजन की व्यवस्था का भार सरस्वती पर ही था, पर रूपकार के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त स्नेहपूण और अपनत्व

से भरा हुआ था। वह परिवार के सदस्य की तरह उसका आदर करती थी। रूपकार सरस्वती की इस उदारता को अपना भाग्य मानकर, अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता था। उसे सरस्वती के व्यवहार मे एक साथ ही सहोदरा का स्नेह और मातृत्व की ममता का दर्शन होता था। सरस्वती को 'दीदी' कहकर ही उसने अपने मन की कृतज्ञता का ज्ञापन किया। जिनदेवन को अब वह स्वामी के स्थान पर 'कुमार' सम्बोधन देने लगा। सरस्वती के एक बार सिखला देने पर ही सौरभ के लिए रूपकार अब 'मामा' हो गया।



२८ फूल की चार पांखुरियाँ चार अनुयोग

जन विचार पद्धति के सम्बन्ध मे सरस्वती की जिज्ञासाएँ अपार थी। वह प्राय रोज अपने एक प्रश्न का निराकरण आचार्य महाराज से कर ही लेती थी। 'शास्त्रो ने चार अनुयोग-भेद करने का अभिप्राय क्या है ? उनके कथन म क्या अन्तर है ?' आज आचार्यश्री के समक्ष उसका यही प्रश्न था। जिज्ञासा उठाती हुई सरस्वती को ही उदाहरण बनाकर आचार्यश्री ने प्रश्न का समाधान किया—

यह जो तेरा बालक है, देवी ! यदि यह माग मे ठोकर लगने से पीडित होकर रुदन करने लगे, तब इसका क्या उपचार करेगी तू ? यही तो, कि इसे स्नेह से अक मे लेगी और सबोधन करेगी—

'इतनी-सी पीडा मे रोना है। देख तेरी दीदी गिर गयी थी, कितना रक्त बहा था, वह क्या ऐसे रोयी थी ? दौडकर घर पहुँच गयी थी वह तो।'

अब यदि यह बालक पीडा को नही भूल पाता तब तेरा दूसरा सबोधन होगा—

'बहुत उपद्रव करता है न, इसीलिए तुझे पीडा होती है। कसे मुह चिढाता है दीदी को, कसे पीटता है उसे, तभी तो तुझे चोट लगती है। चुप हो जा आगे उसका उपद्रव नही करना, फिर कभी नही गिरेगा।'

और इस पर भी बालक यदि समाधान नही पाता, उसका रुदन नही रुकता, तब बदल ही जायेगी तेर सबोधन की भाषा—

'ऐसा स्वच्छ पथ पडा है, दृष्टि भी तेरे पास है, स्वय देखकर तो चलता नही, गिरने पर रोता है। आगे सावधानी से चला कर, फिर कभी चोट नही लगेगी।'

यह सबोधन भी यदि बालक को पूरा समाधान न दे पाये, तब क्या

करना होगा, यह किसी भी ज्ञानी को बताने की आवश्यकता नहीं। स्नेह से सिर पर हाथ फेरेगी और बालक को उसकी महिमा का स्मरण दिलायेगी

'तू तो राजा बेटा है राजा बेटा। तू तो गिरा ही नहीं। वह तो घोड़ा कूदा था। राजा बेटा क्या कभी गिरता है? क्या कभी रोता है? चल, दौड़कर आगे चल।'

बस यही चारों अनुयोगों की कथन पद्धति है देवी! संसार भ्रमण में कर्मोदय की ठोकर से पीड़ित भव्य प्राणी के लिए, जिनवाणी माता की करुणा धारा ही इन चार प्रणालियों में बहती है। जन्म मरण और सुख दुख पीड़ा से, और उस पीड़ा के आतंक से रहित करके प्राणियों को इस संसार में निरापद मार्ग दिखाना इन चारों अनुयोगों का अभिप्राय है। जीव को उसकी निज शक्ति का बोध करा देना ही जिनवाणी का प्रसाद है।

'दीदी गिर गयी थी पर रोयी नहीं दौड़कर घर पहुँच गयी थी।' यही तो कहा है प्रथमानुयोग में। भव्य मानवों के जीवन-वृत्त यही तो बताते हैं कि जब-जब कर्मों ने उन्हें शुभ-अशुभ परिस्थितियाँ प्रदान की, तब वे सकनेप्रवश अधीर होकर रोये विसूरे नहीं। अहंकारवश उन्मत्त भी नहीं हुए। मोक्ष के मार्ग पर ही चलते रहे।

'दीदी का मुह चिढ़ाता है उसे पीटता है तभी चोट लगी है।' यही अभिप्राय है, करणानुयोग का। जीव, भला बुरा जैसा भी व्यवहार दूसरे जीवों के प्रति करेगा कालान्तर में उसे वैसा ही भला-बुरा फल भोगना पड़ेगा। जनदर्शन की कर्म-व्यवस्था का इतना ही तो सार है।

'स्वयं देखकर चलता नहीं, गिरने पर रोता है। सावधानी से चला कर फिर चोट नहीं लगेगी।' यही तो चरणानुयोग का उपदेश है। यत्नाचारपूर्वक अपने जीवन का निर्वाह करना, पापाचरण से दूर रहना, इतना ही तो भविष्य में दुखों से बचने का उपाय है।

तू तो गिरा ही नहीं, वह तो घोड़ा कूदा था। राजा बेटा कभी गिरता ही नहीं। यह द्रव्यानुयोग की भाषा है। जीव तो ज्ञानमय और अजर अमर ही है। वह न कभी जन्मता है न मरता है। न बँधता है, न छूटता है। न गिरता है, न उठता है। ये सारी अवस्थाएँ तो शरीर रूपी घोड़े की होती हैं।

सो देवी! ऐसी है जिनवाणी के चार अनुयोगों की व्यवस्था। जिस अनुयोग में मोक्षगामी महापुरुषों की जीवन घटनाएं संग्रहीत हैं, उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। सर्वप्रथम उसका अध्ययन करने से अपने भीतर

दृढता, साहस और संकल्प शक्ति प्रकट होती है इसीलिए आचार्यों ने इसे 'प्रथम अनुयोग' कहा है। जीव के परिणामों का लेखा-जोखा बतानेवाला गणित करणानुयोग है। चरणानुयोग में अहिंसा पर आधारित मंगल आचरण का विधान किया गया है। जीव की निर्लिप्त, निर्विकार स्थिति और छह द्रव्यों के परिणमन रूप संसार की व्याख्या, द्रव्यानुयोग का विषय है।

जैसे इस बालक की मंगल-कामना के लिए, उसके सुख के लिए, तू सब नाना प्रकार के उपाय करती है, उसी प्रकार वह जिनवाणी माता, तीनों लोकों में भटकते हुए अपनी अनन्त सन्तानों के लिए, मंगल और सुख का विधान करती है। उनकी यही कल्याणी अनुकम्पा, आचार्यों ने चार अनुयोगों की प्रणालियों में बाँधकर इस लोक में प्रवाहित की है।



२१. तृष्णा का दंश

रूपकार अब मूर्ति के सृजन में तन मन से तल्लीन हो गया। उसके कुशल और अभ्यस्त हाथ, अनेक प्रकार के छोटे-बड़े तीक्ष्ण माथरे, हल्के और भारी, उपकरणों का सहारा लेकर मेरे सहोदर के उस अनगढ भाग को मनोहारी मानव-आकार में परिवर्तित कर रहे थे। पाषाण में छिपा हुआ प्रभु का रूप प्रतिक्षण प्रकट होता आ रहा था। अनेक सहायक शिल्पी तक्षण में उसकी सहायता करते थे। पर्वत को उस प्रतिमा के चरणों से नीचा, सानुपातिक काटने और रूप देने का कार्य, वास्तुकारों द्वारा समान्तर ही चल रहा था। काटे हुए पाषाणखण्डों को हटाने में श्रमिक-समूह अनवरत संलग्न था।

प्रतिमा के अंगोपांगों का अंकन करते समय रूपकार के उपकरणों द्वारा अब जितना भी पाषाण झरता था, उसे एकत्र किया जाता था। थोड़े थोड़े दिनों के अंतराल पर उसकी तौल का स्वर्ण, भाण्डारिक द्वारा रूपकार को प्रदान कर दिया जाता था। इस कल्पनातीत पारिश्रमिक ने रूपकार को प्रमुदित कर दिया था। वह अपने भविष्य के प्रति निश्चिन्त और आश्वस्त हो गया था। प्रतिमा के समापन तक एक पुष्कल स्वर्ण भण्डार उसके पास अर्जित हो जायेगा, यह कल्पना उस श्रमजीवी शिल्पी के लिए सचमुच सुखद थी। प्रतिदिन प्रात वह यहाँ आता था। देवदर्शन और गुरुवन्दना करके, नवीन स्फूर्ति और उत्साह के साथ जब वह यहाँ से विन्ध्यगिरि की ओर अपने काम पर जाता, तब उसका आत्मविश्वास और उसका दृढ संकल्प, उसकी आँखों से झाँकता था। उसके विश्वास भरे पाद निक्षेप से अनेक बार उसके मन की दृढ़ संकल्प शक्ति का, मैंने स्वयं अनुभव किया था।

आचार्य महाराज और चामुण्डराय प्रतिदिन ही निर्देश-परामर्श देने

विन्ध्यगिरि पर पधारते थे। प्राय पूरा ही मुनिसघ यहा से कटक की ओर आहार के लिए निकलता और आहार के उपरान्त विन्ध्यगिरि पर ही चला जाता। मध्याह्न की सामायिक उन्ही शिलाखण्डो, और पवत शिखरो पर करके तीसरे पहर ही फिर इस चन्द्रगिरि पर उनका आगमन होता।

पण्डिताचाय और जिनदेवन प्राय पूरी कार्यविधि तक पवत पर ही रहते थे। समय मिलते ही सरस्वती भी वहाँ पहुँच जाती। तीनो मिलकर बाहुबली बिम्ब के अनुपात सौष्ठव और दशनीयता का निरीक्षण और परीक्षण करते रहते। रूपकार की जननी पवत की नियमित यात्री थी। प्रतिमा के गुण दोषो और तक्षण की प्रगति का सूक्ष्मतम लेखा-जोखा वृद्धा की दृष्टि मे रहता था। निर्माण का काय निर्दोष और सतोषप्रद ढग से चल रहा था। पाषाण मे प्राण फूँकने की यह दीघकालीन साधना, अपनी गति से गतिमान थी।

एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर मे रूपकार ने एक विचित्र स्वप्न देखा। स्वप्न मे उसकी कुटी सहसा स्वण-कुटी मे परिवर्तित हो गयी। सीढी से लेकर छानी तक सब कुछ स्वणमय हो गया। द्वार, कपाट वातायन सब कुछ। उसने देखा कि वह स्वय एक स्वण पीठिका पर बठा हुआ स्वण थाल मे भोजन कर रहा है। अम्मा उसे ममतापूर्वक इडली साभर परोसने आयी। थाल मे इडली के आने के पूव ही एका एक रूपकार की नीद टूट गई और उसका स्वप्न खण्डित हो गया।

स्वप्न भग हो तो गया, पर वह स्वर्णिम कल्पना रूपकार के मन मस्तिष्क पर छा गयी। उसने दीपाधार की बाती उकसाकर प्रकाश किया। देखा अम्मा अभी उठी नही है। उनकी वृद्धापन की देह गृह-काय के परिश्रम से और दोनो पवतो की नित्य की यात्रा से ऐसी क्लान्त हो जाती थी कि शीतल पाटी पर गिरते ही उन्हे गहरी नीद आ जाती थी। रूपकार ने एक बार अम्मा के निश्चिन्त मुख की ओर देखा। उसने स्मरण किया कि अपनी व्यस्तता मे इधर कई दिनो से उनके पर दाबने का उसका दैनिक क्रम भग हो गया है। कोई बात नही, अब गृहकाय के लिए सेवक नियोजित करके उन्हे खूब विश्राम देगा ऐसा सोचकर रूपकार ने अपने आपको आश्वस्त किया।

रूपकार सहसा उठा और पाश्ववर्ती कपाट को टालकर कोष्ठ मे सकलित स्वण-सग्रह की ओर अतप्त मन से निहारने लगा। अत्यन्त सुखद लगा उसे यह स्वण दशन। कोई विलम्ब नही लगा उसे कल्पना लोक मे पहुँचते, जहाँ उसने विचारा—

पहली बार गुरु दर्शन के बिना ही वह विन्ध्यगिरि की ओर बढ चला। उसकी गति की अत्यन्त आतुरता चुपचाप मुझे बहुत कुछ बता गयी। मैं आशका से सिहर उठा।

कार्य प्रारम्भ हुआ। ऐसा लगता था कि आज रूपकार अपने आपे मे नही है। वह आज किसी भी प्रकार, कम से कम समय मे, अधिक से अधिक पाषाणकण, उस शिला मे से झरा लेना चाहता था। तक्षण की योजना के अनुसार वह छोटे सूक्ष्म उपकरणो की ओर हाथ बढ़ाकर भी अनजाने ही बडे और स्थूल उपकरण उठा लेता। उपागो, प्रत्यागो का उत्कीर्ण करने के लिए उठे उसके हाथ अनजाने ही प्रतिमा के स्थूल अगो की ओर बढ जाते जहा से अभी बहुत पाषाण बाहर कर गिराने की सम्भावना थी।

आज रूपकार के मन मे स्थिरता नही थी। तक्षण मे उसकी सहज एकाग्रता आज उससे कोसो दूर थी। उसके मन मे तरह-तरह की आशकाएँ प्रति पल उठ रही थी। उसे लगता था कि पुष्कल स्वर्ण-सचय के इस अपूर्व अवसर से लाभ उठाकर, उसे शीघ्र से शीघ्र अपनी कामना की पूर्ति कर लेना चाहिए। वह आशका करता, कही ऐसा न हो कि महामात्य अधिक व्ययसाध्य मानकर, बीच मे ही यह कार्य रोक दे। कही ऐसा न हो कि कोई दूसरा शिल्पी अल्प पारिश्रमिक स्वीकार करके यह अनुबन्ध उससे छीन ले जाय।

एक बार अपने आपको झकझोर कर उसने अपनी मूर्खता का धिक्कारा भी। मन को भरोसा भी दिलाया कि—महामात्य के पास स्वर्ण का अटूट भण्डार है। प्रतिमा के निर्माण के लिए उनकी गहरी लगन है। यह काम बन्द होने की आशका ही निमूल है। इस अधूरे काम को हाथो मे लेकर पूरा कर सके ऐसा दूसरा कलाकार है भी कहा? काम का समापन तो उसके ही हाथो होगा। झरे हुए पाषाण की तौल भर स्वर्ण भी उसे मिलेगा ही। फिर इतनी आतुरता क्या उसे शोभा देती है? कई बार रूपकार ने अपने मन को समझाया, परन्तु उसका यह विवेक दो क्षण भी टिका नही रह सका। मन के किसी कोने से इन सारे आश्वासनो के ऊपर एक शका उठती—

'यह ठीक है कि महामात्य अक्षय स्वर्णकोष के स्वामी हैं, वे काम बन्द नही करेंगे। यह भी निश्चित है कि अधूरा काम उसके हाथ से छीनने की अनीति कोई नही करेगा। पर, यह तो हो सकता है कि किसी क्षण उसका अपना ही शरीर धोखा दे जाय। क्या यह सम्भव नही कि कल पक्षाघात से उसका हाथ ही स्तब्ध हो जाय। किसी दुर्घटना से

उसकी नेत्रज्योति ही चली जाय। तब तो स्वर्ण-अर्जन का यह स्रोत बन्द हो जायेगा। तब क्या यही ठीक नहीं कि उसे अनदेखे अनागत पर भरोसा न करके अवसर का लाभ उठाकर, आज, अभी, जितनी शीघ्र हो सके, जैसे भी हो सके, जितना अधिक हो सके, स्वर्ण-संग्रह कर ही लेना चाहिए।'

रूपकार बार-बार अपने विवेक को जागृत करके अपने अस्थिर मन की निर्मूल आशंकाओं पर हँसता। बार-बार काम में मन लगाने का प्रयास करता, परन्तु हर बार अपने आपसे हार जाता था। आज उसकी छैनी के आघात से जो भी पाषाणखण्ड धरती पर गिरता, वह उसे पाषाण लगता ही नहीं, स्वर्णखण्ड ही दिखाई देता था। उसकी दृष्टि प्रतिमा पर से हटकर गिरते हुए पाषाणखण्ड का पीछा करती। मन ही मन वह उसके भार का अनुमान लगाता। वह प्रतिपल सचेत और सतर्क था कि कहीं उसका झराया हुआ कोई पाषाण किसी प्रकार खो न जाय। तुला पर चढ़ने से रह न जाय। एकाधिक बार ऊँचे काष्ठफलक से नीचे उतरकर उसने झरे हुए पाषाणखण्डों को स्वतः बटोरकर, वस्त्र में बाँध कर सुरक्षित किया। सामान्यतः यह काम जिनदेवन द्वारा नियुक्त लेखापाल किया करता था।

एकबार अकारण ही रूपकार नीचे कटक तक गया। अपनी कुटी में जाकर उसने भीतर से द्वार बन्द करके अपना स्वर्ण भण्डार घड़ी भर तक देखा। उसका बहुविधि स्पर्श किया। फिर आकर वह काम में मन लगाने का यत्न करने लगा, पर सफलता उसे नहीं मिली।

अब बाहुबली की छवि रूपकार की कल्पना में तिरोहित हो गयी थी। बार-बार प्रयास करने पर भी उसे उस आकृति का दर्शन नहीं हो पा रहा था। जितने बार भी उसने वह आकार ढूँढ़ने का प्रयत्न किया हर बार वहाँ उसे स्वर्ण का एक पर्वत ही दिखाई दिया। ऐसा स्वर्ण-पर्वत जिसे छील-छीलकर घर ले जाना ही जीवन की सार्थकता है। कल्पना के वातायन से झाँककर उस पाषाणगर्भित प्रतिमा को देख पाने के लिए, अब वह अन्धे के समान असहाय हो गया था। एकदम निरुपाय और निरीह। हारकर आज उसने समय से पूर्व ही विश्राम ले लिया।

रात को रूपकार ने पुनः स्वप्न देखा। सोने का एक बड़ा ढेर है, पहाड़-सा ऊँचा और विशाल। उसी स्वर्णगिरि पर वह खड़ा है। चारों ओर लोग जयकारों से और तालियों से उसका अभिनन्दन कर रहे हैं। सहसा उसने मुड़कर विन्ध्यगिरि की ओर देखा है। वह अवाक् रह गया देखकर कि विन्ध्यगिरि के शिखर पर उसके अनगढ़ बाहुबली आज कहीं

अंतर्धान हो गये हैं। उस ऊंचे स्वर्णगिरि की संकीर्ण चोटी पर खड़े हुए उसने झाँक-झाँक कई बार विन्ध्यगिरि को देखा, पर बाहुबली की वह अर्द्धनिर्मित प्रतिमा वहाँ उसे दिखाई नहीं दी। उसी प्रयास में उसका संतुलन बिगड़ गया और वह चोटी पर से नीचे की ओर गिरने लगा। तभी उसकी आँख खुल गयी।

जागते ही रूपकार का मन अपने उस अशुभ स्वप्न पर ग्लानि और आशंका से भर उठा। वह तत्काल भागा हुआ मेरी शरण में आया। वहाँ नीचे, वह जो नुकीली ऊँची चट्टान तुम देख रहे हो न, उसी पर खड़े होकर उसने दोड्डबेट्ट की ओर आशंका भरी दृष्टि डाली। आज धवलपक्ष की द्वादशी थी। उज्ज्वल ज्योत्स्ना के प्रकाश में उसने आश्वस्त होकर देखा कि उसके अनगढ़ बाहुबली यथास्थान विराजते थे। उसका जाना पहिचाना काष्ठ फलक का मंच, और मंच के ऊपर झाँकती हुई बाहुबली की प्रतिमा का वह अर्द्धनिर्मित ऊर्ध्व भाग, उस धवल ज्योत्स्ना में यहाँ से एकदम स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

अपनी ही मूर्खता पर जोर से हँसता हुआ रूपकार, अपनी कुटिया की ओर लौट गया। परन्तु प्रयत्न करने पर भी उस रात फिर वह सो नहीं सका। उसे बार बार स्मरण आते रहे प्रवचन में सुने हुए महाभारत के शब्द—

जो कषाय के शिखर पर चढ़ जाते हैं, वे केवल अपने ही पाने और खाने के लेखे में खो जाते हैं। उनकी दृष्टि अपनी ही जय पराजय तक सीमित होकर रह जाती है। नीति-अनीति, अपना-पराया, कुछ भी फिर उन्हें दिखाई नहीं देता। उनका संतुलन किसी न किसी क्षण बिगड़ता ही है। उनका पतन अवश्यंभावी है। पराजय ही उनकी नियति है।'

३१ हृदय-मन्थन के आठ पहर

आज रूपकार विक्षिप्त-सा हो उठा था। जिस प्रकार उसकी संकल्प शक्ति डगमगा गयी थी, उसकी एकाग्रता और उसकी निद्रा उससे छिन गयी थी, उस वंचना से वह भीतर तक काँप उठा था। उसका कोमल कलाकार मन आतंकित हो उठा था। उसे ऐसा लगता था जैसे उसका सब कुछ खो गया है। स्वर्ण-संग्रह के लालच में वह दो ही दिन में एकदम कंगाल हो गया है।

जिनदेवन ने कल उसे असमय नीचे उतरते, पाषाण बटोरते तथा अकारण ही निवास की ओर जाते देख लिया था। सरस्वती और पण्डिताचार्य के साथ उसने रूपकार की इस विसंगति पर गम्भीरता से विचार-विमर्श किया। कार्य के प्रति उसकी अवहेलना और उसके अनमनेपन की सूचना पण्डिताचार्य ने महामात्य को भी उसी दिन दे दी।

चामुण्डराय इस अप्रिय समाचार से व्यग्र हो उठे। वे देखते थे कि यद्यपि विन्ध्य के उस शिखर की आकृति परिवर्तित हो गयी है, परन्तु प्रतिमा के तक्षण का कार्य तो अभी प्रारम्भ ही हुआ है। उन्हें लगा कि सूक्ष्म कार्य में स्वल्प पाषाण झरेगा, अतः अब रूपकार को थोड़ा ही स्वर्ण प्राप्त होगा, यही सोचकर उसका मन विकल हो गया है। 'कठिन काम के लिए अल्प पारिश्रमिक मिलेगा' अपने अनुबन्ध की यह विसंगति उनकी समझ में आ गयी। उन्होंने तत्काल निश्चय कर लिया कि आज से रूपकार को मुँहमाँगा ही पारिश्रमिक देंगे। यदि उसने स्वतः माँगने में संकोच किया तो उपलब्ध पाषाण का दो भार स्वर्ण देने की अभिस्तावना वे स्वयं उससे करेंगे। रूपकार प्रसन्न और उत्साहित रहेगा, तभी यह कार्य सम्पन्न हो सकेगा।

अम्मा परसों ही बेटे की अनमनस्कता देखकर चिन्तित थीं। उन्होंने

कल रात निद्रा का नाटक करके, बेटे का स्वप्न माँ ने अपनी आँखों से देख लिया था। दो दिन से भोजन और निद्रा के बिना उसकी जो दशा हो गई थी, वह भी उन्हें पीड़ित कर रही थी। प्रातः जब रूपकार उनके चरणस्पर्श करने आया, तभी उन्होंने उसे टोक दिया—

ऐसा अनमना क्यों है रे? क्या तुझे कुछ विकार हुआ है? तेरे नेत्र तो देख कैसे अंगार से लाल हो रहे हैं?

कुछ तो नहीं अम्मा! लगता है परिश्रम की क्लान्ति है। अल्पकाल में स्वतः ठीक हो जाऊँगा।

उत्तर में यथार्थ से भागने का पूरा पुरुषार्थ किया गया था।

अम्मा को अवसर जानकर मन के भीतर का ममता भरा आक्रोश अविलम्ब प्रकट कर देना आवश्यक लगा—

'मैं तेरी जननी हूँ बेटे! नौ माह तक मैंने अपनी कोख में छाया है तुझे। तेरे तन मन को मैं जितना जानती समझती हूँ, उतना अपने आपको तू स्वयं क्या कभी समझ पायेगा? देखती हूँ तू लोभ के दुश्चक्र में फँस गया है। अधिक पारिश्रमिक की उपलब्धि तेरी कला-साधना को भंग कर रही है। यह स्वर्ण, जो आज तेरे मनप्राण में बस गया है, इसी की ममता ने तीन दिन से तेरे सृजनहार हाथों को जड़ कर दिया है। यह तो तेरा आत्मघात है बेटा!'

कहते-कहते अम्मा का पीड़ित मातृत्व उनके नेत्रों से छलक उठा। उत्तरीय से अपनी आँखें पोंछकर उन्होंने अपनी पीड़ा को और स्वर दिये—

यह तेरा प्रमाद नहीं, मेरा ही अभाग है रे! देखती हूँ, एक वह भाग्यवान माँ है जिसका बेटा उसकी इच्छापूर्ति के लिए क्या कुछ त्याग नहीं कर रहा? अपनी अम्मा की एक इच्छा की पूर्ति के लिए महामात्य अपना कुबेर का-सा कोष उदारता से लुटाते जा रहे हैं। इधर एक मैं अभागी माँ हूँ जिसका बेटा उस इच्छापूर्ति की क्षमता रखते हुए भी, स्वर्ण की चकाचौंध में अन्धा हुआ जा रहा है।'

तू क्या सोचता है बेटा! बाहुबली की प्रतिमा निष्पन्न होने पर काललदेवी को जितनी प्रसन्नता होगी, मुझे क्या उससे कुछ कम होगी? उन्हें उस दिन अपने बेटे पर जितना गर्व होगा, मुझे अपने बेटे पर क्या उससे कम होगा? पर तू मेरी भावना का आदर करे, ऐसा मेरा भाग्य ही कहाँ है?

मुझसे अपराध हुआ अम्मा! किसी प्रकार इतने ही शब्द रूपकार के मुख से निकल पाये। जननी की गोद में सिर रखकर वह प्रताड़ना

पाये हुए शिशु की तरह बिलख उठा।

अम्मा ने सिर पर हाथ फिराते हुए अपने भटकते बेटे को दुलार दिया। उनके भीतर का आक्रोश अभी निर्दोष नहीं हुआ था। गंग राज्य के राज्यशिल्पी की वे पत्नी थीं। आज उनका पुत्र उस पद पर आसीन था। कला की साधना के लिए आत्मसंयम की महत्ता उन्हें भलीभाँति ज्ञात थी। गरम लौह पर आघात करके उसे ठीक समय पर, ठीक आकृति देने की कला उन्हें भी आती थी। नेह और क्षोभ मिश्रित वाणी में उन्होंने अपने मन की समस्त वेदना पुत्र के समक्ष प्रकट कर दी—

'तुझसे क्या कहूँ रे! कैसे समझाऊँ कि यह कला तेरा अर्जित वरदान नहीं है। यह तेरे पूर्वजों की साधना है। बड़े संयम-जतन से इसका निर्वाह करना पड़ता है। वर्षों तक कभी दूसरा भोजन और तीसरा वस्त्र, जाना नहीं हम लोगों ने। इतने निस्पृह रहे तेरे पिता, तभी उन्हें यश मिला। उन्होंने कभी पारिश्रमिक ठहराया नहीं, माँगा नहीं, लिया भी नहीं। मूर्ति की प्रथम वन्दना की जो न्यौछावर मिल जाती थी, बस वही था उनका पारिश्रमिक। वे कहा करते थे—साधना को पारिश्रमिक की तुला पर चढ़ाने से साधक का अन्त हो जाता है। उसकी खोखली देह भले ही डोलती रहे भीतर का कलाकार फिर जीवित नहीं रह जाता।'

'तूने भी पहिले क्या कभी माँगकर, अनुबन्ध करके, पारिश्रमिक लिया है? नहीं जानती इस बार यह तुझे क्या हो गया है? भूल गया क्या कहा था तेरे पिता ने तेरे गुरुमन्त्र में?'

'लोभ और अहंकार, यह दो लुटेरे हैं इस साधना के मार्ग में। इनसे सदा सावधान रहना। सदा इनसे बचाना अपनी साधना को।'

उनका गुरुमन्त्र स्मरण कर वत्स! आज वे यदि यह मूरत बनाते, तो सहस्र भार स्वर्ण के बदले भी अपनी साधना को, तुला पर नहीं चढ़ाते।'

'भला हुआ जो शीघ्र तुझे बुद्धि आ गयी। प्रात का भटका पथिक सन्ध्या तक पाय निवास में लौट आया, तो उसे कोई भटका नहीं कहता। जा, अपने मन को स्थिर कर। अपनी कला की साधना कर। वही साधना तेरी यथार्थ जननी है रे! मेरी कोख से उपजा तेरा शरीर किसी दिन खो जायगा, परन्तु कला की कोख से जन्मा तेरा यश, तुझे अमर करेगा। जाकर बैठ उन्हीं अनगढ़ कामदेव के चरणों में। वही पूर्ण काम, मेरी और तेरी, सबकी कामना पूरेंगे।'

मातृत्व की संजीवनी का संस्पर्श और मन को मथ जानेवाली यह

वाणी, रूपकार को नया बल, नया साहस दे गयी। वह चुपचाप उठा, जननी के चरणों में माथा रखा और एक नवीन संकल्प से भरा मुझ चन्द्रगिरि की ओर चल पड़ा।

चन्द्रप्रभु बसदि की वन्दना करते समय आज न जाने कौन-सा स्रोत फटता रहा रूपकार कि पूरे समय उसकी आखों से अश्रुधार झरती रही। आचार्य महाराज उस समय ब्रह्मदेव स्तम्भ के पास, धूप में बैठे अध्ययन कर रहे थे। वह दूर से ही उन्हें नमोस्तु करके विन्ध्यगिरि की ओर चला गया। महाराज के सामने जाने का साहस वह नहीं जुटा पाया।

रूपकार यथासमय विन्ध्यगिरि पर गया अवश्य, परन्तु छैनी-टाँकी का स्पर्श आज उसने नहीं किया। अपनी क्षमता पर से उसका विश्वास डोल गया था। वह आशंकित था कि ऐसी मनःस्थिति में वह यत्न भी करेगा तो भी, उस रूप का सृजन वह कर नहीं पायेगा। न जाने उसके किस उपकरण का कौन-सा अवांछित स्पर्श उसकी हथौटी का कौन-सा असंतुलित आघात, आज यहाँ उस मनोहारी छवि में विद्रूपता का कलंक उकेर देगा। अनमने भाव से वह इधर उधर डोलता रहा। जिनदेवन और पण्डिताचार्य की दृष्टि से भी प्रयासपूर्वक उसने अपने आपको बचा लिया।

तीसरे प्रहर सरस्वती पर्वत पर आयी। रूपकार ने उसके साथ सौरभ को देखते ही टर लिया। उसे बहलाने का बहाना लेकर वह एक ओर ओट में जाकर बैठ गया। सरस्वती और जिनदेवन ने रूपकार की ग्लानि ताड़ ली और हठात् उससे बात करने का निर्णय किया। क्षणेक में घूमते हुए वे उसके शलाश्रय के द्वार पर जा पहुँचे। जैसे किसी ने चोरी करते देख लिया हो ऐसे चौंककर, लज्जित-सा होकर नमित दृष्टि रूपकार ने दोनों का अभिवादन किया।

'क्या हुआ वीरन ? स्वास्थ्य तो ठीक है न ? अम्मा ने बताया, कल से भोजन नहीं किया तूने ?' सरस्वती ने भूमिका बाँधी।

'कुछ तो नहीं दीदी ! कितना भी खाऊँ क्या अम्मा को कभी सन्तोष दे पाऊँगा ! एक दिन नहीं भी खाया तो क्या।'

नहीं भैया ! मैं तो आयी ही आज इसीलिए हूँ। चल तेरा भोजन रखा है।'

एक काँटा लगा है दीदी ? उसे निकालने का उपाय हो जाय तभी अब भोजन कर सकूँगा।

कहते-कहते गला रुँधने लगा रूपकार का। सरस्वती ने अपनत्व के

साथ कहा—

देखूं तो रे! कौनसा काँटा तेरे भोजन मे और धाम मे बाधक हुआ है, तीन दिन से। क्या अपनी दीदी को भी नही बताएगा?'

'सो क्या तुमसे छिपी है मेरी यातना। जानता हूँ अम्मा ने कहा होगा तुमसे। कुमार भी देख रहे हैं मेरी दुदशा। मैं किस से क्या कहूँ? तष्णा की नागिन का ऐसा दश लगा है मुझे कि मेरे हाथ कीलित हो गये हैं। मेरी साधना कुण्ठित हो गयी है। कसे होगा इसका प्रतिकार दीदी? मैंने सकल्प कर लिया है, भोजन आज भी नही करूँगा, और कल प्रात तक यदि नही लौटा मेरा विश्वास, नही बहुरा मेरा वरदान तो फिर कभी देख नही सकोगी मेरा मुख। इसी पवत की किसी शिला से सिर टकरा कर अपने शापग्रस्त जीवन को समाप्त कर लूगा।'

आँसुओ से आच्छादित रूपकार का मुख, पश्चाताप के आवेग से दयनीय हो उठा। कुमार ने कधे पर हाथ धर कर उसे सात्वना दी। उसकी पीडा से द्रवित सरस्वती ने कोमल-सा आश्वासन दिया—

'ऐसा कुछ नही होगा भ्रात! तेरी साधना कही गयी नही, वह तो तुमसे अभिन्न है। आवेग शान्त होते ही वह अवश्य प्रकट होगी। पर अनशन करने से क्या होगा? फिर तुझे ज्ञात है? कटक मे कोई निराहार रह गया, तो जान पाने पर बापाजी कसी प्रताडना करेंगे? जानता नही कितना कडा है उनका अनुशासन कितनी तीक्ष्ण है उनकी दष्टि, क्या मेरे लिए विपदा बुलायेगा?'

सरस्वती ने अपने मर्यादित व्यग्य से वातावरण की गम्भीरता को और सहज किया—

'हाँ मरण का विचार उत्तम था। उसमे सारी समस्याओ का समाधान है। पर उसमे भी मुझे एक बाधा दिखाई देती है। कटक को तो मन्त्रो मे बाँध रखा है पण्डिताचाय ने। वहाँ तो उनकी आज्ञा के बिना रोग, मरी, भूत, प्रत और मृत्यु किसी का भी प्रवेश हो नही सकता, और इस पवत पर केवल सल्लेखना या समाधिमरण ही सम्भव है, सो उसके लिए आचायश्री की सहमति अनिवाय है।'

तब ऐसा कर वीरन! मेरी क्षेम-कुशल के लिए तो चलकर भोजन कर ले, और प्रात काल अपने सारे सकल्प विकल्प रख दे आचाय महाराज के समक्ष। फिर जसी उनकी आज्ञा हो वसा ही करना। कोई नही रोकेगा तुझे।'

'चल रे सौरभ, मामा को घर ले चल। भोजन मे विलम्ब हो रहा है।'

सरस्वती का आदेश था तो सौरभ के लिए, पर उसका पालन करना था जिनदेवन को। तुरन्त ही रूपकार ने कंधे पर हाथ रखे वे पत्नी और पुत्र के साथ व्यस्त भाव से नीचे की ओर चल पड़े।

सरस्वती के सम्बोधन से रूपकार को बहुत ढाढस बँधा। अपनी दशा से वह सचमुच बहुत भयभीत हो उठा था। किसी भी प्रकार वह इस नागिन से पीछा छुड़ाना चाहता था। उसका अधूरा काम उसे पुकार रहा था। अपनी साधना से पल भर का भी विछोह अब उसे भारी लग रहा था। वह आश्वस्त हुआ कि प्रातःकाल आचार्य महाराज के समक्ष मन की पूरी आकुलता उघाड़कर रख देने से उसका समाधान हो जायेगा। उन अपरिग्रही महाव्रती के पास इस परिग्रह पिशाच मोचन का मन्त्र अवश्य मिलेगा। यही सब सोचते हुए उसने सोने का उपक्रम किया।

मन को तरह-तरह से समझाते हुए रूपकार ने निढाल होकर अपने आपको निद्रा के अंक में डाल तो दिया, परन्तु उसका अवचेतन मन अभी भी ऊहापोह में डूबा था। निर्दोष और निर्बाध निद्रा आज भी उसके भाग्य में नहीं थी। अर्द्धरात्रि में उसने पुनः स्वप्न देखा—स्वर्ण का वही पर्वत वैसा ही ढेर। अन्तर केवल इतना कि आज वह स्वयं उस पर्वत के नीचे दब गया है, दबता जा रहा है। उस भार से उबरकर बाहर निकलने का उसका कोई प्रयत्न सफल नहीं हो रहा। प्रतिपल वह भार बढ़ता ही जा रहा है। उसकी श्वास तक रुद्ध होना प्रारम्भ हो गयी। सहायता के लिए दूर दूर तक कोई भी वहाँ दिखाई नहीं दे रहा। सहसा उस भार तले से उसकी आँखें दो गतिमान चरणों को अपनी ओर आता देखती हैं। साड़ी की कोर बताती है कि वे उसकी ही जननी के शरणभूत चरण हैं। वह अपने तन मन की पूरी शक्ति लगाकर पुकार उठा—अम्मा ! !

मन्द दीपक के झीने उजास में, लगभग टटोलते हुए, वृद्धा अपने पुत्र की चटाई तक पहुँची। लेटे हुए भयाक्रान्त बेटे के माथे पर हाथ फेरकर उन्होंने कहा—लगता है सपने में डर गया है रे ! न जाने क्या-क्या तो विचारता रहता है आजकल। चिन्ता करने से काम तो होगा नहीं। इस दुविधा को छोड़ना ही होगा बेटा। चल सो जा, मैं बैठी हूँ तेरे पास। प्रातः आचार्य महाराज के पास चलकर तेरा उपाय पूछूँगी।

थोड़ा-सा सरक जाने पर ही रूपकार का सिर जननी की जंघा पर टिक गया। उनका ममता भरा हाथ अभी भी उसके माथे पर था। रूपकार को लगा—कितना अभय है अम्मा की गोद में। धीरे धीरे वह आश्वस्त हुआ, उसकी आँखें झपने लगीं।

अम्मा को स्मरण आया बेटे का शैशव, जब प्राय सपनों में डरकर इसी प्रकार वह चौंकता था। ऐसे ही गोद में लिटाकर वे उसे सुलाती थीं। आज उनका पुत्र उन्हें वैसा ही लगा। भोला और नासमझ। न जाने क्या हुआ उनके मन को कि आसू की दो बूदें सहसा उनकी आँखों से टपक पड़ीं। फिर उन्हें वर्षों पुरानी लोरी की एक पंक्ति स्मरण आ गयी जिसे उनके होंठ अनजाने ही गुनगुना उठे।

उनींदे बेटे ने माथे पर दो उष्ण जल बिन्दुओं का अनुभव किया। तब तक उसका सारा भय, सारा विषाद लोरी के उन दिव्य स्वरों में डूब गया था।

३२ स्वतन्त्रता का सन्देश

आज चतुर्दशी का पर्व था। पर्व के दिनों में शिल्पियों-श्रमिकों को पूरे दिन का अवकाश मिलता था। मुनि संघ में उस दिन प्रातःकाल आचार्यश्री का प्रवचन होता था। सभी साधु उपवासपूर्वक साधना में ही यह दिवस व्यतीत करते थे।

रूपकार जब अम्मा के साथ वहाँ उपस्थित हुआ, तब सभी लोग देव शास्त्र और गुरु की पूजन भक्ति करके सभास्थल पर एकत्र हो चुके थे। महामात्य सपरिवार वहाँ उपस्थित थे। प्रवचन प्रारम्भ होने में विलम्ब नहीं था। गुरु को नमन करके माँ बेटे वहीं एक ओर बैठ गये।

आज आचार्य महाराज ने अपने प्रवचन में स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का विश्लेषण किया। दो घड़ी तक उनकी वचन गंगा यहाँ प्रवाहित होती रही। आज भी तुम लोगों के लिए उस उपदेश की उपयोगिता असंदिग्ध है। इस प्रकार प्रारम्भ हुआ उनका प्रवचन—

संसार का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रता का आकांक्षी है। वह परतन्त्रता से आतंकित है। भगवान् महावीर का दर्शन, स्वतन्त्रता का अभय दिलाने वाला विश्व का अनुपम दर्शन है। इस दर्शन में अपने 'स्व' के अभिज्ञान द्वारा ही मोक्षमार्ग की साधना का विधान किया गया है। अपने आपको पहचानने का यह पुरुषार्थ विश्व का सबसे बड़ा पुरुषार्थ कहा गया है। अपने स्व को प्राप्त कर पाना ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी गई है।

—अज्ञानी प्राणी दीर्घकाल से संसार के इस मंच पर नाना प्रकार के रूप-वेष धारण करता हुआ भटक रहा है। संसार में उसने बुद्धि के बड़े बड़े प्राणायाम किये, परन्तु अपना वास्तविक विश्लेषण कभी नहीं किया। दूर दूर के पदार्थों को जाना उन्हें जुटाया उनका उपभोग

किया। उन्हें भविष्य के लिए सुरक्षित करने का प्रयास भी किया, परन्तु अपने आपको जानने का यत्न उसने कभी नहीं किया। अपने 'स्व' से जुड़ने की उसकी प्रवृत्ति बनी ही नहीं। आत्म-आनन्द की निर्झरिणी में वह कभी भीगा ही नहीं। अपने भविष्य की सुरक्षा का कोई उपाय उसने आज तक किया ही नहीं।

—अज्ञानी जीव 'स्व' को भूलकर 'पर' में आनन्द मान बैठा है। आज भी वह निरन्तर उस 'पर' की ही उपासना में अपने जीवन की सार्थकता मान रहा है। अहर्निश उसी के संवर्धन में वह संलग्न है। संसार के ये पदार्थ, जो तृप्ति के नहीं तृष्णा के हेतु हैं, संताप के नहीं, आकांक्षाओं के जनक हैं, शाश्वत नहीं हैं क्षणभंगुर हैं, स्वयं विनाशवान् हैं, वह उन्हीं में तृप्ति, संताप और शाश्वत कल्याण ढूंढता है। जो प्रकट ही पर हैं, उन्हें ही अपनेपन की दृष्टि से देखता है। जो स्वतः ही उससे विलग हैं, छूट जानेवाले हैं, उन्हीं के पीछे वह जन्म से मृत्यु तक भटकता है। 'पर' को पाने की यह लालसा ही 'परतन्त्रता' है। 'स्व' की उपलब्धि का विज्ञान ही 'स्वतन्त्रता' है।

—अपने आपको पहचानने और पाने की यह प्रक्रिया, प्राणियों के लिए अत्यन्त सरल है। आत्मा तो नित्य शाश्वत, चेतन तत्व है। वही तो तुम्हारा अस्तित्व है। उसे कहीं से लाकर उपलब्ध नहीं करना है। अपने ही भीतर उसका अभिज्ञान करना है।

—यह जो जिज्ञासा करता है, यह जो उत्तर और समाधान प्रस्तुत करता है, यह जो उस व्यवस्था को ग्रहण और धारण करता है, यही वह आत्मतत्व है। यह आत्मतत्व 'पर' की संगति से विकारी बना भटक रहा है। क्रोध मान, मायाचारी प्रलोभन इच्छा अभिलाषा आदि विकारों में डालना इसका अपराध है। इन विकारों से पृथक् अपने चेतनस्वरूप के द्वारा इसकी पहचान करना ही, आत्मा का अन्वेषण है। इन विकारों का अभाव करके इस 'स्व' तत्व का ग्रहण ही आत्मोपलब्धि है।

—अपनी अप्रिय विकारी दशा को छोड़ना ही श्रेयस्कर है।
—फिर जो शेष रहे वही अपना वैभव है।
—अनावश्यक का विमोचन ही आवश्यक की उपलब्धि है।
—अप्रिय का तिरस्कार ही इस प्रिय का सत्कार है।
—अशाश्वत का विसर्जन ही शाश्वत का उपार्जन है।
—विभाव का पराभव ही स्वभाव का उदय है।
—'पर' का विमोचन ही 'स्व' का सृजन है।

—पवन की प्रेरणा से उठनेवाली तरंगों के शान्त हो जाने पर, जैसे

प्रशान्त, गम्भीर और अपरम्पार परिधिवाला समुद्र स्वत प्रकट दिखाई देने लगता है उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ की तरगो के विलान हो जाने पर, पूर्ण शान्त परम गम्भीर, अनन्त गुणमाला का भण्डार यह आत्मसिन्धु, स्व चिन्तन के द्वारा अनुभव मे आने लगता है। निज अनुभव की यह कला ही, ससार-सागर की भँवर से जीव का उद्धार करने म समर्थ है।

—राग-द्वेष का पर्यवसान हो जाने पर, जीव का सहज वीतराग भाव ही शेष रह जाता है। ज्ञान की वही निरापद, निराकुल और निर्विकल्प स्थिति है। यह वीतरागता तुम्हे कहीं से लाना नही है। वह तो विकारो के विसर्जन से उदित होनेवाला जीव का सहज स्वभाव है।

—जब तक जीव को इस 'स्व' के स्वामित्व का ज्ञान नही है तभी तक वह पर' के स्वामित्व का अभिलाषी है। दूसरे पर अधिकार की कामना जब तक सुखद लगती रहेगी, तब तक 'स्व' के अधिकार से उसे वचित ही रहना पडेगा। जो चेतन के विभव से अनभिज्ञ हैं वही अचेतन के चमत्कार से प्रभावित हैं। वही परतन्त्र हैं। जिसे अपना स्वामी बनने की कला ज्ञात नही, वही 'पर' के स्वामित्व मे आनन्दित होता है। जिसने 'स्व' के स्वामित्व का गौरव प्राप्त कर लिया वही स्वतन्त्र है। उसी स्वतन्त्रता की आराधना करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

नेमिचन्द्राचार्य महाराज का यह प्रवचन उनकी प्रवचन माला का एक अग था, परन्तु रूपकार को उसम एक पृथक ही उद्बोधन सुनाई दिया। उसे लगा जसे महाराज का पूरा प्रवचन आज उसी के सम्बोधन के लिए प्रदान किया गया है। एक एक वाक्य, एक एक उदाहरण, उसी की ओर इगित करता हुआ कहा गया है। उसके मन मे द्वन्द्वो के घन गर्जन तो कर ही रहे थे, इस वाणी से जसे वहाँ एक बिजली ही कौंध गयी। एक ज्योति शलाका जसे उसके मन के सारे अधकार को चीरती हुई, उसके मस्तिष्क तक को प्रकाशित कर गयी।

रूपकार को सहसा यह बोध हुआ कि आत्मसाधना और शिल्प साधना क सिद्धान्तो म कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। जसे इधर जड शरीर म चेतन आत्म-तत्त्व अपनी सम्पूर्ण सम्पदा के साथ पृथक ही विराजमान है, वसे ही उधर अनगढ शिला मे बाहुबली की प्रतिमा भी अपने समस्त अवयव-आकारो के साथ विराज रही है। जिस प्रकार यहाँ हेय और अनावश्यक विकारो को हटाकर, आत्म-तत्त्व को प्रकाशित करने की आवश्यकता है उसी प्रकार वहाँ भी अनावश्यक पाषाण को पृथक करके प्रतिमा को प्रकट ही तो करना है। जड शरीर का आवरण,

उसी की सेवा सम्हार की आकांक्षा जिस प्रकार यहाँ आत्मदर्शन में बाधक है, उसी प्रकार वहाँ झरते हुए व्यर्थ पाषाण के संकलन की लगन, उसे स्वर्ण से तौलने की आकांक्षा उस परम सौम्य वीतराग छवि के तक्षण में मुझे बाधक हो रही है। जड़ से अनुबंध तोड़कर ही जैसे चेतन से साक्षात किया जा सकता है, उसी प्रकार यह स्वर्णानुबंध तोड़कर ही वीतराग अपरिग्रही मुद्रा का अन्वेषण मेरे लिए सम्भव होगा। उस वीतराग सौम्य मुद्रा को दृष्टि में लाकर एकाग्र मन से ही यह साधना पूरी हो सकेगी।

३३ शाप का विमोचन

रूपकार को अब मार्ग दिखाई दे गया। उसे स्वतः अपनी व्यथा का निदान मिल गया। पीडा मुक्ति का उपाय भी उसके समक्ष स्पष्ट हो गया। ठीक ही तो कहा उन करुणाधारी गुरुदेव ने—'पर को पाने की लालसा ही परतन्त्रता है।' क्या पागल हो गया था मैं? मेरे भगवान् बाहुबली तो उस विन्ध्यशिला म विराजमान हैं। उन्हे कही से लाना-बनाना नही है। अपनी स्वतन्त्र साधना-अर्चना के बल पर केवल उन्हे रूपायित करके लोक के लिए दृष्टिगम्य कर देना ही मेरी सेवा है।

स्वर्ण ग्रहण की परतन्त्र आकाक्षा का ही ग्रहण लग गया है मेरी स्वतन्त्र साधना को। मैंने स्वय ही बिसार दिया है अपनी सिद्धि-सम्पदा को। पाषाण से स्वर्ण की तोल करना, एक का सग्रह कर दूसरे को फेंकना, क्या यह माटी से माटी का ही विनिमय नही है? अब बन्द करना होगा मुझे यह खल। स्वय ही तोडना होगा मुझे लालसा का वह चक्रव्यूह, जिसम मैं स्वयमेव फँस गया हू। दूसरा कौन इसका प्रतिकार करेगा?

नही अब एक पल भी नही। तृष्णा के उस नागदश को निर्विष करनेवाली नागमणि जब हाथ लग गयी है, तब अभी, यही, इसी समय होना चाहिए उस पीडा का उपचार। पारिश्रमिक के व्यामोह से उबरकर ही मेरा सृजन सम्पन्न हो सकेगा।

अम्मा के पुकारने पर ही रूपकार की विचार शृखला भग हुई। आचार्यश्री के समीप जाकर दोनो ने नमन किया। अम्मा ने बेटे की व्यथा कहने का उपक्रम किया परन्तु महाराज ने वर्जना कर दी—

'भद्र! नि शल्य होकर स्वय अपना अभिप्राय कहो।'

रूपकार अपने सकल्प पर अब तक दृढ हो चुका था। उसका आत्म विश्वास जागृत हो चुका था। विनयपूर्वक करबद्ध खडे होकर उसने

निवेदन किया—

'कहने को कुछ शेष नहीं रहा महाराज! आपके दर्शनों से ही मेरी मूर्च्छा भंग हो गयी। एक भयानक स्वप्न देखा था, उसी में आक्रान्त और आतंकित हो उठा था मेरा मन। आपकी वाणी ने मुझे जगा दिया। अब न स्वप्न शेष है, न उसका आतंक।

मैंने अनुभव कर लिया है महाराज, यह स्वर्ण ही मेरी जड़ता का कारण बना है। पारिश्रमिक की लालसा में बँधे हाथ आपकी विराट् कल्पना को आकार नहीं दे पायेंगे। आसक्ति की दलदल में डूबकर इतनी उत्तुंग मूर्ति का निर्माण कोई नहीं कर सकेगा। इस अनुबन्ध से मुक्त होकर ही मेरे उपकरण सृजन में समर्थ होंगे। मैं अर्जित और अनर्जित, समस्त पारिश्रमिक का त्याग करने के लिए, महाराज की आज्ञा और महामात्य की सहमति चाहता हूँ।'

यथार्थ तो यह है पथिक, कि सिलावट और मूर्तिकार उन दिनों समाज के अत्यन्त सामान्य वर्ग के प्राणी माने जाते थे। कोई मूर्तिकार भी ऐसा प्रबुद्ध, इतना निस्पृह और भावुक हो सकता है, ऐसी कल्पना उस सामन्ती समाज-व्यवस्था में सहज नहीं थी। मैंने उसके पूर्व अनेक वास्तुकारों, मूर्तिकारों और शिल्पियों को देखा है। यहीं तब उन्होंने अपने उपकरणों से मुझे भी उपकृत और संस्कृत किया, पर ऐसा प्रतिभावान् शिल्पी पहली बार इस प्रांगण में आया था। आज यह रूपकार जिस गरिमा के साथ आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित था, शिल्पी का वह रूप निराला ही रूप था। उसका संकल्प सुनकर सारे विस्मित से रह गये। चामुण्डराय को अपने कानों पर भरोसा करना कठिन हो रहा था। महाराज रूपकार को कोई उत्तर दें इसके पूर्व ही उनकी अधीर वाणी गूँज उठी—

'नहीं महाराज! यह किसी प्रकार उचित नहीं। पारिश्रमिक शिल्पी को लेना ही चाहिए।'

साग्रह उन्होंने निवेदन किया और तत्काल वे रूपकार की ओर उन्मुख हुए—

'पारिश्रमिक तो स्वीकारना होगा शिल्पी! उत्तरोत्तर अब श्रम तुम्हें अधिक होगा और झरनेवाले पाषाण का भार घटता जाएगा। इसलिए आज से पाषाण के भार का दोगुना स्वर्ण तुम प्राप्त करोगे। इन्कार नहीं करोगे। पर्याप्त स्वर्ण है चामुण्डराय के कोष में।'

महामात्य की दर्पयुक्त वाणी और प्रभावशाली महान् व्यक्तित्व के समक्ष, क्षण भर को तो रूपकार हतप्रभ-सा हुआ, परन्तु अविलम्ब ही उसे

अपनी कुण्ठा और जडता का स्मरण करके भीतर से साहस मिला। अपने संकल्प को मन ही मन दोहराते हुए उसने नम्रतापूर्ण शब्दों में दृढ़ता से भरा हुआ उत्तर दिया—

'क्षमा करें महामात्य! इस स्वर्ण की मूर्च्छा ने मुझे अपंग कर दिया है। इसी के मोह में मेरी साधना मुझसे रूठ गयी है। आपके अक्षय-अटूट स्वर्ण-कोष का मुझे अनुमान है। आपकी उदारता भी जग विख्यात है। मेरा तो भोजन वस्त्र भी आपका ही प्रदान किया हुआ है। परन्तु जो वस्तु मेरी साधना में ही बाधक बन रही है उसे अंगीकार करके मैं जीवित कैसे रहूँगा।'

न जाने आपके पास कौन-सी विद्या है जो इतने स्वर्ण भण्डार के स्वामी होकर भी आप सामान्य और प्रकृतिस्थ बने रहते हैं। आपकी सम्पदा के सिन्धु का बिन्दु भी मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु जितना भी मिला है उसी ने मुझे तो विक्षिप्त कर दिया। मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए। मुक्त कर दीजिए मुझे इस अनुबन्ध से। आपका ही भोजन वस्त्र आजीवन ग्रहण करूँगा, परन्तु पारिश्रमिक अब मैं स्वीकार नहीं कर सकूँगा।'

'आपकी प्रभु प्रतिमा तो उस शिला में बनी हुई ही है। अपने अनुभव से मैंने कई बार उसका दर्शन किया है। यहाँ से अभी भी वह मुझे दिखाई दे रही है। ऊपर-ऊपर का कुछ अनावश्यक और अर्थहीन पाषाण उतार दूँगा, तभी आपको भी उसका दर्शन उपलब्ध हो जायेगा।

अब आप ही कहें महामात्य! अनावश्यक के विमोचन में कैसा परिश्रम और उसका क्या पारिश्रमिक? जो व्यर्थ होकर झर ही रहा है उसके लेखे-जोखे का क्या महत्व?

चामुण्डराय को शिल्पी की बात प्रिय नहीं लगी। उन्हें उसमें आवेग में क्षणिक भावुकता का भी सन्देह हुआ। आचार्य महाराज से ही उन्होंने एकबार और प्रार्थना की—

'शिल्पी का कथन अनुचित है महाराज! यह लोक क्या कहेगा मुझे एक शिल्पकार का प्राप्तव्य भी नहीं दे पाया चामुण्डराय?

यहाँ तुम्हारे दे पाने या नहीं दे पाने का प्रश्न ही कहाँ है गोमट! शिल्पी के शब्द नहीं अभिप्राय ग्रहण करो। उसकी भाषा नहीं, भाव समझने का प्रयास करो। स्मरण करो, तुम्हीं से एक दिन शिल्पी ने कहा था—ऐसे लोकोत्तर कार्य का पारिश्रमिक भी लोकोत्तर ही होना चाहिए।

हम जानते थे एक दिन इस वाक्य का संशोधन होगा। आज वह

समय आया है। सुनो भद्र! हम इस प्रकार उस वाक्य को संशोधित करते हैं—

'ऐसे लोकोत्तर कार्य के शिल्पी भी लोकोत्तर ही होना चाहिए।'

'लोक तुम्हें कुछ नहीं कहेगा। पारिश्रमिक प्रदान करनेवाला अपना प्रचुर कोष लेकर बैठा है, किन्तु ग्रहण करनेवाला उससे बचना चाहता है। इसमें दाता की महानता है। शिल्पी के मन में अनासक्ति की भावना का उदय इस महान् कार्य के लिए शुभ संकेत है। लोभ से पंकिल हाथों के द्वारा सचमुच यह कार्य साध्य नहीं था।'

'रूपकार, तुम्हारा संकल्प सराहनीय है। जिस भाव भंगिमा को पाषाण पर अंकित करना चाहते हो, अपने हृदय में उसको उतारना परम आवश्यक है। लोभ का उत्सर्ग करके तुमने अपने-आपको पवित्र किया है। अब निश्चय ही तुम्हारे हाथ से वास्तविक वीतराग छवि का निर्माण होगा।'

देश में अर्हन्त भगवन्तों की सहस्रों प्रतिमाएँ हैं। उनके निर्माता सहस्रों ही कलाकार इतिहास की वेदिका पर बिखरे हुए हैं। महामात्य ने इन सबसे विलग और विलक्षण एक अभूतपूर्व जिनबिम्ब बनवाने का संकल्प किया है। हमने उस अनोखी प्रतिमा की एक कल्पना की है। ऐसी प्रतिमा जैसी किसी ने न कहीं देखी, न कभी सुनी। ऐसे महान् निर्माण के लिए शिल्पी को भी महान् बनना पड़ेगा। हम आश्वस्त हैं कि आज तुमने उस महानता के लिए प्रथम प्रयास किया है।'

'परिग्रह ने सदा सबको आकुलता ही दी है। तुमने परिग्रह को सीमित करके या कम करके, भगवान् महावीर के बताये मार्ग का अनुसरण किया है। अपने सुख स्वार्थ के लिए किसी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुँचाना। असत्य का सहारा नहीं लेना। अनीति और अनाचार से संग्रह नहीं करना। मन को वासनाओं से बचाना और आवश्यकता से अधिक परिग्रह की आकांक्षा नहीं करना। यही पाँच प्रारम्भिक नियम, यही पंच अणुव्रत महावीर ने गृहस्थों के लिए बताये थे। इनका संकल्प तुम्हारे जीवन को उत्कर्ष प्रदान करेगा। इतनी पवित्र भावनाओं के साथ तुम्हारे द्वारा किया गया निर्माण अवश्य ही लोकोत्तर होगा।'

महाराज का आशीर्वाद पाकर रूपकार उत्साहित हुआ। आगे बढ़कर उसने श्रीचरणों में नमन किया। चामुण्डराय के प्रति भी उसने विनय पूर्वक अभिवादन किया। भाव विभोर महामात्य कुछ बोले नहीं, केवल पीठ थपथपाकर उन्होंने रूपकार को स्नेह दिया।

३४ गोमटेश का उद्भव

कितने दिन तक यह निर्माण काय चलता रहा है मैं यह नही सकता। कितनी बार ग्रीष्म की भारी तपन म श्रमिको का वहाँ स्वेद-सिक्त देखा, कितनी बार मघा न उस अर्द्धनिर्मित प्रतिमा का जनाभिषेक किया, कितनी बार शीत की सुखद धूप का आनन्द लेते जनसमूह का दोड्डबेट्ट पर विचरते देखा, इस सबका लेखा मेरे पास नही है। इस बीच अनेक बार थोडे-थोडे दिनो के लिए आचायश्री का अयत्र भी विहार होता रहा। अनेक बार राजकाज के लिए महामात्य तलकाडु आते जात रहे। अजितसेन महाराज के दशन के लिए एक बार सभी लोगा न बकापुर की यात्रा भी की, परन्तु पण्डिताचाय और जिनदेवन एक दिन के लिए भी यहाँ से अनुपस्थित नही रहे। रूपकार के सृजनशील उपकरणो की मीठी झनकार इस वातावरण म अनवरत गूँजती ही रही। लोगा को चर्चा करते सुना करता था कि अढ युग तक लगभग छह वर्षों तक, तक्षण का काय चलता रहा।

प्रतिमा निर्माण के काय की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई थी। आकार ग्रहण करता हुआ यह पवतखण्ड दस-पाँच कोस से दिखाई भी देता था। देश-देशान्तर के लोग इस निर्माणाधीन कृति को देखने नित प्रति आते थे। विन्ध्यगिरि पर उनका मेला-सा लगा रहता था। सभी आगतुको के भोजन विश्राम की व्यवस्था चामुण्डराय की ओर से सरस्वती के निर्देशन मे होती थी।

जसे जसे प्रतिमा पूणता के निकट आती जा रही थी, वसे ही वसे रूपकार का उत्साह बढता जा रहा था। उसका आत्मविश्वास अब साकार हो रहा था। उसका श्रम साथक हो उठा था। प्रतिमा के कण्ठ भाग तक स्थूल तक्षण म रूपकार ने कुछ शिल्पियो का सहयोग लिया

था। परन्तु सभी अगो को अन्तिम स्पश उसी की छनी ने प्रदान किये थे। मुख भाग का सम्पूर्ण तक्षण वह स्वय ही कर रहा था। स्थूलाकार निर्मित करने के उपरान्त अब उसने क्रमश एक एक उपाग का अन्तिम रूप देना प्रारम्भ किया।

बाहुवली के आनन पर भावसष्टि की अवतारणा अब रूपकार का लक्ष्य था। अब वह तक्षण मे कम और चिन्तन मे अधिक सलग्न दिखाई देता था। कभी उसकी कल्पना म ध्यानस्थ आचार्यश्री की आत्मलीन मुद्रा होती, कभी जिनचद्र की सानुपातिक देहयष्टि का वह ध्यान करता और कभी सौरभ के निर्दोष, भाल, सस्मित मुख की कल्पना करता था। कभी यव या अगुल को उन्मान बनाकर उन उपागो की माप करता। कभी प्रतिमा के मुख पर केसर का लप कराता, कभी जल से प्रक्षाल कराता, जिससे वहा उसे अनक भगिमाएँ उदित और विलीन होती दिखाई देती थी।

रजत फलको और विशाल दपणो की सहायता से, सूय का परावर्तित प्रकाश प्रतिमा के भिन्न भिन्न अगो पर डालकर, अनेक बार रूपकार उसकी छवि का आकलन करता था। कई बार कृत्रिम प्रकाश से भी यह प्रयोग दोहराया गया। आचाय महाराज और महामात्य के परिकर के समक्ष भी इस परीक्षण के द्वारा प्रतिमा के सौष्ठव और सौदय का विश्लेषण किया गया। कभी-कभी तो रूपकार, भिन्न कोणो से, उस छवि को, आत्मविस्मृत-सा, दो-दो घडी तक निहारता ही बठा रहता था। ऐसा लगता था जसे कोई साधक गुह्य साधना का आश्रय लेकर, किसी मन्त्र की सिद्धि कर रहा हो।

सचमुच उन दिनो बडी एकरस तन्मयता के साथ रूपकार अपने साध्य की साधना मे दत्तचित्त था। पारिश्रमिक के त्याग से दूर दूर तक उसकी कीर्ति फल गयी थी। लोग उसकी निष्ठा पर मुग्ध थे। उसके धय की प्रशसा और उसके सफल काम होने की कामना करते थे। जनमानस म उसकी मान मर्यादा बढ गयी थी।

कला की अवतारणा के लिए रूपकार की एकाग्रता और उसकी समर्पित साधना सचमुच दर्शनीय थी। भोजन-पान शयन और विश्राम सब कुछ भूलकर वह अपने सजन मे तन मन से सलग्न हो गया था। अम्मा प्रतिदिन समय पर उसका भोजन लेकर जाती परन्तु प्राय नीचे बठी-बठी थक जाती थी। कभी दोपहर के पश्चात, और कभी सूर्यास्त के पूव सायकाल ही रूपकार मच से नीचे उतरता और जो सामने आता वही भोजन, निरपेक्ष भाव से ग्रहण कर लेता।

एक दिन मातेश्वरी कालनदेवी ने अम्मा से कहा—

'बेटे को कह बोलकर भोजन तो समय पर कराना चाहिए। कुवेला में भोजन करने से उसका स्वास्थ्य नहीं गिरेगा ? कल मैं भोजन लेकर जाऊँगी। देखती हूँ कैसे समय पर अन्न ग्रहण नहीं करता।'

मातेश्वरी का संकल्प सुनकर अम्मा कुछ भी बोली नहीं। मुस्करा कर रह गयी। दूसरे दिन मातेश्वरी के निर्देश पर विशेष भोजन तैयार किया गया। भोजन असामान्य नहीं था पर अलोना था। सब कुछ बिना नमक का। एक सेविका को साथ लेकर मातेश्वरी और अम्मा उस दिन पर्वत पर गयीं। सेविका तथा अम्मा को एक चट्टान की आड़ में छोड़कर मातेश्वरी ने भोजन का थाल हाथ में लिया, दूसरे हाथ में जलपात्र उठाया और अम्मा प्रतिदिन जहाँ प्रतीक्षा करती बैठती थी, उसी स्थान पर वे जा बैठीं।

मातेश्वरी को अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। थोड़ी ही देर में रूपकार मंच से उतरकर आया और हाथ धोकर नियत स्थान पर बैठ गया। भोजन प्रारम्भ करने पर रूपकार नमक माँगेगा तभी अपनी बात कह देंगी, ऐसा विचार कर मातेश्वरी ने भोजन का थाल और जल पात्र सामने सरका दिया। विचारमग्न रूपकार ने सिर झुकाकर जो भोजन प्रारम्भ किया सो अंतिम ग्रास तक उदरस्थ करके, जल ग्रहण कर लेने पर ही उसका सिर ऊपर उठा। बिना देखे बिना बोले, दूर से ही मातेश्वरी के चरणों में प्रणाम करके वह तत्काल मंच पर लौट गया।

कालनदेवी ने अनुभव कर लिया कि अपनी धुन में संलग्न रूपकार को तन बदन की भी कुछ सुधि नहीं है। भोजन में स्वाद के परिवर्तन का तो उसे पता चला ही नहीं, परन्तु भोजन लानेवाली अम्मा के स्थान पर उनकी स्वयं की उपस्थिति का भी उसने लक्ष्य नहीं किया है। अम्मा को बधाई देती हुई उनके कलाकार बेटे की एकाग्रता की सराहना करती हुई, मातेश्वरी अत्यन्त आश्वस्त मन से वापस लौट आयीं।

बहुत दिनों की साधना के उपरान्त तक्षण का कार्य समाप्ति की ओर पहुँचा। प्रतिमा की ग्रीवा के आसपास काष्ठफलकों का जो मंच बना था, अहर्निश उसी पर रह कर अपनी कृति के सबसे कठिन सबसे संवेदनशील और सबसे महत्त्वपूर्ण भाग की अवतारणा में अब रूपकार संलग्न हुआ। मूर्ति के शीर्ष पर केश गुच्छकों ने आकार ग्रहण कर लिया था। उनके वक्ष में स्निग्धता और मदुता की झलक दिखाई देने लगी थी। कर्ण और ग्रीवा के पृष्ठ भाग का समापन भी हो चुका था। अब चिबुक कपोल ओष्ठ, नासा और नेत्रों को ही संवारना शेष था। देव प्रतिमा

वे यही वे प्रत्यग हैं, जो अपनी इकाई म अनुपात के प्रति सर्वाधिक सवेदनशील होते हैं और अपनी समन्विति म भाव की सृष्टि करनेवाले होते हैं। इन्ही का तालमय निवहन कलाकार की साधना और सिद्धि का प्रमाण होता है। इनकी लयात्मक सयोजना के अभाव में सारी रचना निर्जीव और निष्प्राण-सी लगने लगती है। अब उसी लयात्मक सयोजना की अवतारणा करने म रूपकार एकाग्र होकर लगा था।

अब रूपकार के आग्रह से विन्ध्यगिरि पर सामान्यजना का आवागमन निषिद्ध कर दिया गया था। थोडे से सहायक और जिनदेवन ही, तीन चार दिन मे, वहाँ तक पहुँच पाते थे। ऊपर पीन विताना का मण्डप-सा तानकर, प्रतिमा का ऊर्ध्व भाग पूरी तरह आच्छादित कर दिया गया था। कलाकृति, कलासाधना और कलाकार तीनो ही जग की दृष्टि से ओझल होकर जैसे वहा एकाकार हो रहे थे।

पथिक, तुम यही सोच रह हो न, कि अब मुझे भी यह सब दिखाई देना बन्द हो गया होगा? तुम्हारा सोचना ठीक भी है यहाँ से अब किसी को कुछ भी दिखाई नहा देता था। पर मुझे इसस क्या अन्तर पडता था? मैं तो छनी का प्रत्येक स्पश और कलाकार का उच्छ्वास तक यहाँ अनुभव कर रहा था। क्या तुम्हे ज्ञान नहो कि य चिक्कबेट्ट और दाड्डबेट्ट केवल ऊपरी सतह पर पृथक हैं। य चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि, धरागभ मे मूलत एक हैं अखण्ड ही हैं। वहा जो कुछ हो रहा था वह मेरा अपना ही परिणमन था। मुझे उसका प्रतिपल सवेदन हो रहा था।

कलाकार की कला-साधना अब कठोर हो गयी थी। प्रात काल केवल एक बार वह नीचे उतरता। नित्यक्रियाओ से निवृत्त होते तक अम्मा जल और दुग्ध लेकर पहुँच जाती। एक बार जितना जो कुछ ग्रहण कर लिया, वही और उतना ही उसका आहार था। भोजन ग्रहण किये आज उसे तीसरा दिन था। जिनदेवन ने आज उसस भोजन का आग्रह किया भी, परन्तु निषेध आया अम्मा की ओर स— मैं अपने बेटे की हठ जानती हूँ। अब वह काय समापन करके ही अन्न ग्रहण करेगा।'

सातवें दिन वह शुभ घडी भी आ गयी जब रूपकार ने अपनी कृति निष्पन्न होने की घोषणा कर दी। उस दिन प्रात दो-तीन घडी तक उसके सूक्ष्म उपकरणो ने मूर्ति के नेत्रो की अर्द्धोमीलित मुद्रा को अंकित करके, अपना काय समाप्त किया। प्रतिमा पर उपकरणो का यह अन्तिम स्पश था। दीघकाल की साधना के उपरान्त, अपनी

लोकोत्तर कृति की निष्पन्नता का स्पर्श देकर, रूपकार जब अपनी पर्णकुटी की ओर चला, तब उसकी गति में गरिमा और शरीर मे स्फूर्ति थी। सात दिन तक अहर्निश, निराहार रहने की कोई क्लान्ति, इतने परिश्रम की कोई निर्बलता, उसके तन मन पर लक्षित नही हो रही थी।



३५ प्रथम वन्दना

'मूर्ति का निर्माण सम्पन्न हुआ।'

'बाहुबली की प्रतिमा निष्पन्न हो गयी।

'कल प्रात प्रथम वन्दना होगी।'

थोडे ही समय मे यह समाचार दूर-दूर ग्रामो जनपदो तक पहुँच गया। आचार्य महाराज ने प्रात शुभ मुहूर्त मे बाहुबली के प्रथम दर्शन का योग घोषित किया था। रात से ही यहाँ लोगो का एकत्र होना प्रारम्भ हो गया। जो जहाँ था अपने ही ढग से अपने प्रभु के दर्शन के लिए, अपने आपको प्रस्तुत करने मे सलग्न था।

उस दिन यह रात्रि भर का विलम्ब सबको असह्य था। यह रात्रि, बडी दीर्घ रात्रि लगती थी। तुम अनुमान नही कर पाओगे पथिक, कि वह रात्रि लोगो ने कितनी उत्सुकतापूर्वक व्यतीत की। जो भी यहा उस दिन उपस्थित था, प्रात की सूर्य किरणें देखने के लिए बेकल था। अपने उन बहुश्रुत आराध्य बाहुबली का रूप निहारने के लिए आबाल वृद्ध, उस दिन अत्यन्त उतावले थे। उस दिन प्रात काल होने से बहुत पूर्व से ही उत्सुक नर-नारियो का समूह विन्ध्यगिरि पर पहुँचने लगा।

यथासमय आचार्य महाराज ने बाहुबली की प्रथम वन्दना के लिए यहा से प्रस्थान किया। चामुण्डराय उस मुनि-सघ के अनुगामी थे। काललदेवी, अजितादेवी और सरस्वती सभी उनके साथ-साथ चल रहे थे। जिनदेवन और पण्डिताचार्य पहले ही ऊपर पहुँच चुके थे। आगे पीछे सहस्रो नर-नारियो का समूह उसी पथ पर बढता चला जा रहा था।

काललदेवी मे आज न जाने किस शक्ति का उदय हुआ था। वे बिना किसी सहारे के तीव्रगति से चलने मे आज पूर्णत समर्थ थीं। सबसे आगे पहुँचकर भगवान् बाहुबली की उस चिरवाछित छवि का वे सर्वप्रथम

दर्शन कर लेना चाहती थी। आचार्यश्री की मर्यादा के कारण, कुछ दूर तक तो वे पीछे पीछे चलती रहीं, पर उनका धैर्य शीघ्र समाप्त हो गया। कुछ चपल बालकों ने सामान्य पथ से परे, एक सीधा मार्ग, ऊपर तक जाने के लिए ढूढ लिया था। सहसा काललदेवी उसी पथ पर बढ चली। उस सर्वथा अनुमानित, अनिश्चित और अप्रयुक्त पथ की असुविधाओं का आतंक, उनकी गति में तनिक भी बाधक नहीं हुआ। सौरभ का मन तो पहले ही उस अनगढ पथ पर चलने के लिए ललचा रहा था। दौडकर दादी अम्मा से आगे निकल जाने में उसने जरा भी विलम्ब नहीं किया।

अजितादेवी ने मातेश्वरी को सहारा देने के लिए आगे बढने का प्रयास किया, परन्तु चार डग चलने पर ही उन्हें अनुभव हो गया कि मृग या मर्कट की-सी कुशलता के बिना इस असामान्य पथ की यात्रा सम्भव नहीं है। ऐसी कुशलता उनके पास थी नहीं और काललदेवी तब तक दृष्टि से ओझल भी हो चुकी थी।

थोडे ही काल में यह यात्री संघ उस पवित्र स्थल पर पहुँच गया। पण्डिताचार्य के निर्देश में भगवान की प्रथम वन्दना की पूर्वयोजना वहाँ सम्पन्न की जा चुकी थी। शिल्पियों के लिए बाँधे गये काष्ठाधार और काष्ठ फलकों का मंच हटाया जा चुका था। वस्त्रवितान के स्थान पर एक झीना-सा पीत पट अब भगवान् के शरीर को आवृत करता झूल रहा था।

प्रतिमा के आस पास पुष्पों और पत्र मालाओं की सज्जा की गयी थी। भूमि पर दूर-दूर तक कनक और रोली के चौक पूरे गये थे। चारों कोनों पर आम्र-पत्र और श्रीफल संयुक्त मंगलघट स्थापित थे। केसरिया चीनांशुक में आवृत उन स्वर्णघटों पर मणिमालाएँ, शोभित थीं। सामने ही एक स्थान पर भाँति भाँति के वनपुष्पों का बडा ढेर था और कंचन आरती प्रज्ज्वलित रखी थी।

सहस्रों नर-नारी प्रात से ही आकर वहाँ एकत्रित थे। चहुँओर उत्सुक दर्शनार्थियों के समूह में जो एक हलचल-सी दिखाई दे रही थी, आचार्य महाराज के पधारते ही, वह स्वत समाप्त हो गयी। वातावरण एकदम शान्त हो गया। रह रहकर बाहुबली भगवान् का, और आचार्य नेमिचन्द्र का जयघोष अवश्य उस जनसमूह में गूंज जाता था।

हाथों में पिच्छी साधकर आचार्य महाराज ने महामन्त्र का जाप किया। मंगल मन्त्र णमोकार आचार्यश्री को परम इष्ट था। वे बडी निष्ठा और विश्वासपूर्वक इसका जप किया करते थे। जप पूरा होने पर उन्होंने

दोना हाथ जोडकर मूर्ति को नमस्कार किया। तभी रूपकार ने पट खींच दिया। अब भगवान् बाहुवली की वह विशाल मनोहर मूर्ति अपनी पूरी समग्रता के साथ भक्ता के सामने प्रकट थी। मूर्ति क्या थी मानो बाहुवली ही साक्षात् वहाँ प्रकट हो गये थे। एक बार जय गोमटेश का उद्घोष करके आचार्य ने सम्मुख खडे हुए रूपकार की ओर लक्ष्य किया—

धन्य है शिल्पी, इन महाप्रभु का आवाहन करनेवाली तुम्हारी कला धन्य है। हमारी कल्पना से भी अधिक भव्यता भर दी है तुमने इस विग्रह मे। इस महान् कृति के साथ उसके कलाकार का नाम यश भी अमरता प्राप्त करेगा।'

'इसमे मेरा कुछ नही है महाराज, इसके कृतिकार तो आप हैं। मैंने तो मात्र आपकी आज्ञा और निर्देशो का पालन किया है।' रूपकार ने आचार्य के चरणो का स्पर्श किया। धर्म-वृद्धि के लिए आचार्य की पिच्छी शिल्पी के मस्तक का स्पर्श कर रही थी।

प्रतिमा को एकटक निहारते हुए सभी उपस्थित जन अब मन्त्र-मुग्ध से मौन खडे थे। आराध्य का ऐसा अद्भुत साक्षात्कार था वह, कि जिसने भी उनसे दृष्टि मिलायी वह स्वत खो गया। बालक और वृद्ध, स्त्री और पुरुष, साधु और गृहस्थ रागी और विरागी सब ठगे-ठगे से, उस अशेष सौम्य राशि को अपलक निहारते खडे थे। वहा उनकी एकाग्रता देखकर लगता था, मानो समयचक्र ही थोडी देर के लिए स्थिर हो गया हो।



पथिक! इन पंक्तियों का छन्दों में किया हुआ भावानुवाद जो प्रातःकाल तुम गुनगुना रहे थे, वह भी मुझे कर्णप्रिय लगा है—

नीलकमल की पाखुरिया-सी नयना की परिभाषा।
पूर्ण चन्द्र-सी मुख की छवि, चम्पक कलिका-सी नासा॥
उन नयनों को, इन नयनों में, अपलक बाँध बिठाऊँ।
गोमटेश के श्रीचरणों में बार-बार सिर नाऊँ॥

उस विशाल विग्रह की अमल आभा, कोमल कपोलों की निर्दोष स्वच्छता और सुदीर्घ कर्ण-युगल, अब आचार्यश्री की दृष्टि में थे। बाहुबली की सशक्त और सुडौल भुजाएँ अब उनकी दृष्टि को आकर्षित कर रही थीं। सहसा स्तुति का एक छन्द और सुनाई दिया—

अच्छाय-सच्छं जलकंत गंडं,
आबाहु-दोलंत सुकण्ण-पासं।
गइंद-सुण्डुज्जल बाहुदण्डं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥२॥

स्वच्छ गगन-सी देह, विमल जल-से कपोल अनियारे।
कर्ण युगल काँधों तक दोलित मन को लगते प्यारे॥
सुर कुंजर की सुण्ड समुज्ज्वल, बाहों की छवि ध्याऊँ।
गोमटेश के श्रीचरणों में बार-बार सिर नाऊँ॥

नेमिचन्द्राचार्य महाराज की सौन्दर्य पिपासा आज सचमुच अनन्त हो उठी थी। भगवान् की ग्रीवा की शोभा का अतृप्त अवलोकन करके उनकी आँखें, बाहुबली के विशाल वक्ष की परिक्रमा करती हुई, उनके आनुपातिक, सुन्दर कटिप्रदेश पर अटक गयीं, तभी तीसरे छन्द की अमृत ध्वनि लोगों के कानों में पड़ी—

सुकण्ठ-सोहा जिय दिव्व संखं,
हिमालयुद्दाम विसाल कंधं।
सुपेक्खणिज्जायल-सुट्ठुमज्झं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥३॥

जिसकी ग्रीवा दिव्य शंख की शोभा से भी सुन्दर।
हिमगिरि-सा जिसका विशाल उर, अनुकम्पा का आगर॥
उस अनिमेष विलोकनीय छवि को जी भर कर पाऊँ।
गोमटेश के श्रीचरणों में बार-बार सिर नाऊँ॥

इस बार छन्द के तीन ही चरण उन मुनीश को बोलना पड़े। चौथा चरण ठीक समय पर बिना कहे वहाँ सहस्रों कण्ठों ने दोहरा दिया।

भक्ति विह्वल वे आचार्य बार-बार विचारते थे—धन्य है आज की

मे दोहरा कर कीतन करने लगे थे। 'त गोमटेस पणमामि णिच्च' की लयबद्ध ध्वनि 'द्रुत' से अब 'द्रुततर' होती जा रही थी। लय मे आरोह और अवरोह का समावेश करने के लिए, किसी लयकार ने, स्तुति की उस पक्ति को द्विविध तोड लिया था। 'पणमामि णिच्च त गोमटेस' के रूप मे उठाकर वे उसे आरोह की ऊचाइयो पर ले जाते और 'त गोमटेस पणमामि णिच्च' रूप मे अवरोह पर लाकर, बार-बार दोहराने लगते थे। कीतन करता हुआ वह जनसमूह, नाचता गाता भगवान् की परिक्रमा कर रहा था। कोई जान नही पाया कि कब, आचाय की शिष्य मण्डली के बालयति भी, उस समूह परिक्रमा म सम्मिलित हो गये।

वन पुष्पो का पुष्कल सकलन वहा पूव से था ही। भाण्डारिक ने स्वण और रजत के कृत्रिम पुष्पो के भी ढेर लगा दिये थे। लोग बडी देर तक अजलि भर भरकर भगवान् के चरणो पर पुष्प बरसाते और गाते-नाचते उनकी परिक्रमा करते रहे। शायद ही कोई वहा ऐसा रहा हो जिसका तन और मन, इस प्रभु-कीतन मे थिरक न उठा हो। बस हम दो ही उस दुलभ नत्य से वचित रह गये थे। एक तुम्हारे आचार्य नेमिचद्र, और दूसरा मै चन्द्रगिरि। आचाय तो इसलिए तुम लोगो का साथ देने म असमर्थ थे कि प्रथम दष्टि मे ही उनका तन मन, उनका सवस्व, भगवान् के चरणो म बधक ही हो गया था। वहाँ होकर भी, वे वहाँ थे कहा? और पाषाण। म, यह विचार कर स्थिर बना रहा, कि मेरा नृत्य, जड और चेतन किसी को कभी अच्छा नही लगता।



३७ मन की मनुहारें

बाहुबली की मनोहारी छवि का दर्शन पाकर महामात्य हर्षातिरेक में भावाभिभूत थे। प्रतिमा पर प्रथम दृष्टि पडते ही उन्होंने अपने कण्ठ की मणिमाला उतारकर स्थपति के गले में बलात् पहनायी थी और उसे भुजाओं में कमकर गले से लगा लिया, इतनी तो उन्हें सुधि थी पश्चात् वहाँ जो भी हो रहा था, महामात्य उसके बेसुध साक्षी मात्र थे। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। वे बहुत प्रयत्न करके भी गोमटेश-स्तुति का उच्चार तक कर सके, एक बार भी सफल नहीं हुए। उनका समूचा ही तन मन स्तुति पद की लय से, उसकी ताल से, और उसकी भावना से एकाकार हो रहा था, पर उनका कण्ठ हर्षातिरेक से अवरुद्ध हो गया था।

जिनदेवन ने लक्ष्य किया कि काललदेवी प्रारम्भ से अब तक अचल और अवाक् होकर भगवान् की सुन्दर छवि का दर्शन कर रही हैं। एक ओर वार्धक्य की क्षीण दृष्टि और दूसरी ओर प्रतिमा की इतनी उत्तुंग मुख-छवि अतः उन्हें बार-बार ग्रीवा उठाकर, असामान्य होकर ऊपर जाहना पड़ता है। आगे बढ़कर उस बलिष्ठ युवक ने दादी को उठाकर अपने विशाल कन्धे पर बिठा लिया। फिर तो जिनदेवन ने आगे पीछे, चारों ओर निकट से और दूर से, उन्हें भगवान् का बहुविधि दर्शन कराया। काललदेवी का चिर-दर्शनाभिलाषी मन यद्यपि तृप्त तो नहीं हुआ, पर पौत्र के शरीर पर भार बाधा का विचार आते ही, तृप्ति का झूठा आश्वासन देकर ही, वे हठात् उसके कंधे से उतर आयीं।

सौरभ को यह कौतुक करणीय लगा। ठुमककर पिता का स्कन्धारोहण करने में वह चपल बालक सफल भी हो गया, पर जननी का एक छोटा-सा वंकिम भ्रुकुटि निर्देश उसी क्षण उसे धरती पर उतार लाया।

वह निर्विकार और निर्दोष शिशु फिर अपने में मगन हो गया।

मनचाहा खिलौना पाकर बालक जिस प्रकार हर आशा से एकाधिकार पूर्वक उसे ग्रहण कर लेना चाहता है, उसी प्रकार सौरभ, आज गोमटेश्वर को प्राप्त कर लेना चाहता था। कभी जनसमूह के साथ उछलता कूदता वह भगवान की परिक्रमा कर आता, कभी दौड़कर अपनी छोटी छोटी कोमल बाहों में गोमटेश के चरणों का अंगूठा बाँध लाने का उपक्रम करता। कभी भगवान् के दोनों चरणों के बीच खड़ा होकर वह उनकी जय-जयकार करने लगता। किसी भी स्थिति में आज सौरभ का मन सन्तुष्ट नहीं हो पा रहा था।

सूर्यताप में अतिशय उछलकूद के कारण पौत्र का सुकुमार मुख स्वेदसिक्त हो उठा देखकर अजितादेवी ने उसे अंक में लेकर, स्वेदरहित किया और स्नेहपूर्वक पूछा—

बाल क्या चाहिए तुझे ?'

भगवान् को अपने घर ले चलो न मां जी।' बालक ने सहज भाव में अपनी भोली आकांक्षा पितामही पर प्रकट कर दी। आँचल का छोर मुंह से दबाकर बड़ी कठिनाई से अजितादेवी अपनी हँसी पर नियन्त्रण कर पायी। तत्काल उन्होंने लाडले पौत्र को अंक से उतारकर, प्यार से पति की ओर धकेलते हुए, आश्वासन दिया—

'जा अपने बाबा से बात। वही तेरा लाड पूरा करेंगे।'

सौरभ दो पग तो महामात्य की ओर बढ़ा, पर बाबा का लक्ष्य अपनी ओर न पाकर समझ गया कि हठ पूरी कराने का अवसर नहीं है। ठिठक कर उसने मन ही मन संकल्प किया कि सन्ध्याकाल जब बाबा उसे कहानी सुनाने बैठेंगे, तभी उनसे कहकर अपना काम करा लेना होगा। बाबा यदि नहीं सुनेंगे तब वह रूपकार मामा से कहेगा। मामा अवश्य उसके लिए ऐसे ही एक और भगवान् बना देंगे। वह फिर पलटकर अपनी क्रीड़ा में व्यस्त हो गया। मन के लड्डू सौरभ को जो तृप्ति दे रहे थे उसकी प्रतिछवि उसके नेत्रों की चमक में स्पष्ट होकर झलक रही थी।

मुदितमन अजितादेवी मातेश्वरी से और अपनी पुत्रवधू से उनके लाडले की अनोखी अभिलाषा का बखान कर रही थी।

एक प्रौढ़ महिला समूह में से निकलकर बाहुबली के चरणों के समीप ही बैठ गयी। अपनी छोटी-सी करण्डिका में से अक्षत, पुष्प और फल निकालकर वह पूजा आरती का आयोजन करने लगी। सरस्वती ने लक्ष्य किया कि उस महिला ने, आरती के प्रज्वलित दीप से फूल को

ही एक पांखुरी पर, थोड़ा-सा काजल एकत्र किया और आंचल की आट करके, उसे भगवान् के चरणों म छोटी अगुली की कोर पर लगा दिया।

सरस्वती के मन म कुतूहल हुआ। पूजन आरती का समापन करके वह प्रौढा समूह मे विलीन हो, इसके पूर्व ही, सरस्वती न आदरपूर्वक उसे टेर लिया। काजल के प्रति जिज्ञासा करने पर बडे सहज भाव से उस ममतामयी ने उत्तर दिया—

'देखती नहीं हो बहूरानी, कितना सुन्दर है भगवान् का रूप। कैसी प्रशंसा कर रहे हैं लोग उनकी छवि की। क्या पता किसकी कैसी दृष्टि हो, कभी कुदृष्टि भी तो लग सकती है अपने बाहुबली को। इसलिए मैंने काजल का दिठौना लगा दिया है उनके चरणों पर। मैं तो अहीरिनी हूँ बेटी, लाखों बरस की आयु मिले हमारे गोमटेश को।

और तब सरस्वती ने भी उस महिला के साथ आंचल का खूंट हाथ म लेकर गोमटेश के चरणों से अपना माथा लगा दिया।

स्तवन समाप्त हुए बहुत समय हो गया था। पूरा उपस्थित समुदाय अब कीर्तन और परिक्रमा म सलग्न था। किसी का कोई अन्य चिन्ता वहाँ नहीं थी। क्षुधा, पिपासा सब जैसे वे लोग भूल ही गये थे। वहाँ से जाने की बात किसी के मन म उठ ही नहीं रही थी।

आचार्य महाराज की दर्शन-समाधि अभी तक टूटी नहीं थी। वे उसी अविराम तन्मयता के साथ टकटकी बाँध भगवान् की ओर देख रहे थे। कीर्तन का कोलाहल भी उनकी तल्लीनता भग नहीं कर पा रहा था। वे उस प्रतिमा के आकर्षण मे उलझ गये लगते थे। उपवास का सकल्प करके, आज के लिए चर्या की चिन्ता से तो उन्होंने पहले ही मुक्ति पा ली थी। अब सामायिक की बेला का भी उल्लघन हो रहा था। इतने दिन के सयमी जीवन म पहली बार यह व्यतिक्रम हो रहा था पर इसकी ओर भी उनका ध्यान नहीं था।

आचार्यश्री का माथा बार-बार बाहुबली स्वामी के चरणों म झुक जाने को सन्नद्ध होता था पर नेत्रों की टकटकी टूटना नहीं चाहती थी। मस्तक नमन का आकांक्षी था, पर आँखें दर्शनाभिलाषा की पूर्ति करने में तल्लीन थीं। दृष्टि का निमिषमात्र के लिए भी वहाँ से हटाना बड़ा कठिन, तथा कष्टकर लग रहा था। बड़े द्वन्द्व के उपरान्त, मस्तिष्क ने उनके भावुक मन पर विजय पायी। आचार्य ने मुख मण्डल पर से दृष्टि हटाकर, भगवान् के चरणों म अपना माथा झुका दिया। दो क्षण बाद ही उठकर अत्यन्त शान्त भाव से, ईर्यापथ शोधन करते हुए वे करुणायतन, मेरी ओर आगमनशील दिखाई दिये।

आचार्य के प्रस्थान के उपरान्त जनसमूह भी थोड़ा तितर बितर हुआ। कुछ लोग नीचे की ओर भी चले आये, पर दूर-दूर से आनेवाले दर्शनार्थियों का वहाँ अब तांता लग गया था। चार लोग समूह में से निकलते तब तक आठ नवागन्तुक उसमें जा मिलते। वह मेला बढ़ता ही जा रहा था। लोग नाना प्रकार के वाद्य लेकर पहुँचते और वहाँ सहज ही नवीन कीर्तन मण्डली की स्थापना हो जाती। जनमानस का यह उत्साह देखकर जिनदेवन ने, रात्रिकाल में आवागमन की सुविधा हेतु, प्रकाश की व्यवस्था प्रारम्भ करा दी। सन्ध्याकाल से वहाँ कीर्तन और आरती की संयोजना भी घोषित कर दी गयी।



३८ दुग्ध खीर

अजितादेवी ने आज गोदुग्ध की खीर बनवायी थी। भोजन में उन्होंने बड़े उत्साहपूर्वक मातेश्वरी के थाल में एक पात्र भरकर रख दी। बहुत दिन के बाद वे मातेश्वरी को दुग्ध का भाजन परोस पा रही थीं। आज बाहुबली का दर्शन प्राप्त हो गया, उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई, अब तो उन्हें सदा की तरह दुग्धाहार ग्रहण करना ही होगा।

'आज नहीं बेटी कुछ दिन बाद दुग्ध पान का भाजन करूँगी।' धीरे से नकारते हुए काललदेवी ने खीरपात्र पृथक् कर दिया।

मातेश्वरी के उत्तर ने चामुण्डराय का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने भोजन प्रारम्भ नहीं किया था। अपनी पीठिका छोड़कर जननी के समक्ष वहीं भूमि पर बैठ गये—

'आज तो तुम्हारा प्रण पूर्ण हुआ अम्मा! इस वृद्ध शरीर को हितकर भोजन से वंचित करने का अब कौन-सा प्रयोजन शेष रहा है? आज तो दुग्ध ग्रहण करना ही पड़ेगा।'

उनके अनुरोध में आग्रह और हठ का समन्वय था।

'नहीं रे गोमट! मेरा प्रण अभी पूर्ण कहाँ हुआ? अभी तो मैंने गोमटेश का मात्र दर्शन ही मैंने पाया है। अपनी आँखों से उनका दुग्ध अभिषेक जिस दिन देखूँगी उसी दिन पूर्ण होगा मेरा प्रण। मेरे बाहुबली के अभिषेक का दुग्ध जिस दिन इस विन्ध्यगिरि पर बहेगा, उस दिन मैं अजिता से स्वतः माँगकर दुग्ध ग्रहण करूँगी।'

उत्तर का स्वर धीमा था पर उसमें दृढ़ता थी। फिर भी चामुण्डराय ने एक बार और आग्रह किया—

'महाभिषेक तो अगले मास ही हो सकेगा अम्मा! महाराज ने यही मुहूर्त बताया है। रूपकार ने भी प्रतिमा में स्निग्धता लाने के लिए

दो पक्ष का समय चाहा था। आचार्य महाराज को पधारने में भी तीन सप्ताह लगेंगे। बंकापुर से कल ही उनके विहार के समाचार मिले हैं। दूर-दूर तक निमन्त्रण भेजे जा रहे हैं। सब ओर से लोगों को आने में भी समय लगता है। अभी दुग्धाभिषेक के लिए एक मास से अधिक समय शेष है। तुम्हारा शरीर अब क्षीण हो रहा है। दुग्ध ले लेना उचित होता।

'मत चिन्ता कर रे, मैं अभी बहुत जीऊँगी। तूने मेरे बाहुबली का दर्शन जो करा दिया है। यह बुढ़ापन अब मुझे पंगु नहीं कर पायेगा। अब निश्चिन्त मन तू भोजन के लिए उठ।

काललदेवी ने स्नेहपूर्ण उत्तर देकर बात को विराम दे दिया।



३९ मंगल आरती

ऊपर पर्वत तक पूरा भाग बड़ी-बड़ी ज्योति शलाकाओं से प्रकाशित था। उनम तलपूर्ति के लिए स्थान-स्थान पर सेवक नियुक्त थे। प्रतिमा के सामने की ओर भूमि पर अनगिनत प्रज्वलित दीपों का एक स्वस्तिक बनाया गया था। काष्ठ निर्मित ऊंचे-ऊँचे दीपाधारों पर बड़े-बड़े चतुर्मुख दीप सजाकर मूर्ति को प्रकाशित किया गया था। उस रात्रि में चारों ओर दीपावली का-सा मनोरम दृश्य था।

सर्वप्रथम सरस्वती ने अपने सुमधुर कण्ठ से आचार्य नेमिचन्द्र महाराज द्वारा प्राप्त उच्चरित गोमटेश स्तुति का गान किया। आचार्य श्री की सहज सुबोध प्राकृत शब्दावली और इन्द्रवज्रा-सा सहज गेय छन्द, वैसे भी कानों को प्रिय लगनेवाले थे। सरस्वती के सधे हुए कण्ठ का सहारा पाकर उन पद्यों के लय-ताल और निखर उठे। महाकवि के हृदय की कोमलतम अनुभूतियों में से निःसृत पद-छन्दों को उसने अपने स्वर सिद्ध कण्ठ के योग से अत्यन्त रसमय बना दिया। वीणा की झंकार से उन छन्दों में मधुरता भरती हुई सरस्वती साक्षात् सरस्वती ही लगती थी। श्रोताजन मुग्ध भाव से स्तुति का हर छन्द ग्रहण करते वाद्यन्त्रों की ध्वनि के साथ उसकी अर्थ संगति बिठाते और छन्द के चतुर्थ चरण तक पहुँचते-पहुँचते भक्ति गंगा में सराबोर होकर उसे दुहरा देते थे।

आरती का आरम्भ स्वयं मातेश्वरी ने किया। अपनी पौत्र-वधू से मांगकर हठात् उन्होंने अपने पैरों में घुंघरू बांधे और दोनों हाथों में आरती लेकर मदगम की थाप पर वे नृत्य करने लगी। एक संगीतज्ञ आरती के छन्दों का लयबद्ध उच्चारण करते, फिर जनसमुदाय के अभ्यासी कण्ठ उसे दोहराते थे। काललदेवी उसी लयताल के अनुसार मुग्ध होकर मंदिर और द्रुतगति में नृत्य कर रही थीं। उनकी दृष्टि

भगवान् के दिव्य रूप का पान करती रही और वे भक्ति में तल्लीन बेसुध-सी तब तक नाचती रहीं, जब तक उनका जराग्रस्त शरीर, शिथिल होकर स्वतः भगवान् के चरणों में गिर नहीं गया। सरस्वती ने जल सिंचन करके और बयार सचार करके उन्हें प्रकृतिस्थ किया।

मातेश्वरी का यह उत्साह देखकर अजितादेवी चकित हो रही थी। काललदेवी के नृत्य का अभ्यास उन्हें ज्ञात था। उन्हें भली भाँति स्मरण था तीस वर्ष पूर्व, जब नववधू के रूप में उन्होंने इस घर में प्रवेश किया था कैसी पागल-सी होकर नाची थी मातेश्वरी। परन्तु तब उनका शरीर बहुत स्वस्थ और सशक्त था। अभी दस वर्ष पूर्व जिनदेवन के ब्याह पर, इसी सरस्वती के गृहप्रवेश के समय, बहुत हठ करने पर भी मातेश्वरी ने उनका साथ तक नहीं दिया था। कहा था—

'इस वृद्धापन में बिना सहारे चल फिर लेती हूँ, यही क्या बहुत नहीं है ? नाचने कूदने की शक्ति अब कहाँ ?'

अजितादेवी विचार कर रही थी—दस वर्ष पूर्व जो वार्धक्य से अशक्त थी, उन्हीं मातेश्वरी के चरण आज कावेरी की लहरों जैसी चंचलता से थिरक रहे हैं। कितनी शक्ति होती है भक्ति के आवेग में !

थोड़ी देर तक सौरभ के साथ छोटे बालक-बालिकाएँ आरती करते रहे। अजितादेवी स्वयं उन्हें हाथ पकड़कर आरती कराती रहीं। विशालकाय भगवान् की आरती में छोटे छोटे भक्तों की अटपटी थिरकन देख-देखकर वे बार-बार अपना भाग्य सराहती थीं। तभी जिनदेवन के इंगित पर सौरभ अपने रूपकार मामा को, समुदाय में से ढूँढकर खींच लाया। उस आत्मकेंद्रित कलाकार को एक बार सन्नद्ध करने में प्रयास करना पड़ा पर शीघ्र ही उपस्थिता न देखा कि सिर पर दीप-कलश कंधों पर ज्वलित दीप और हाथों में दीप-आरती, ऐसे पाँच ज्वलित दीपों को एक साथ संयोजित करते हुए अनेक भाव भंगिमाओं के साथ, रूपकार ने जो आरती नृत्य वहाँ प्रस्तुत किया, वह अद्भुत ही था। आरती लिये हुए सौरभ को कंधे पर बिठाकर, और हाथों में चंवर लेकर भी रूपकार घड़ी भर तक मगन मन नाचता रहा।

सरस्वती नृत्य और संगीत दोनों में पारंगत थी। दीपकों की झिल मिल ज्योति से आलोकित, भगवान् के चरणों की दिव्य छवि का आकर्षण और मृदंगम की थाप का आमन्त्रण, उसे बार-बार झकझोर रहे थे। बैठे ही बैठे उसका तन मन थिरक रहा था, परन्तु अपरिचित समुदाय के समक्ष सहज लज्जा और संकोच, अब तक उसे रोके रहे। अब पति के प्रच्छन्न अनुरोध ने रूपकार के अनुनय ने, सौरभ की

बालहठ ने, और मातेश्वरी की लाडभरी प्रताडना ने उसे भी गतिमान कर दिया। दो तीन समवयस्का महिलाओ ने उसका अनुसरण किया।

आरती प्रारम्भ करने के उपरान्त क्षणमात्र में ही सरस्वती का सकोच निरस्त हो गया। बाहुबली स्वामी के पुनीत चरणो को दृष्टि में बसाकर एकान्त समर्पण पूर्वक, तन्मयता के साथ, उसने भक्ति की गगा प्रवाहित कर दी। तन्मयता की उस स्थिति मे उसके लिए आराध्य के अतिरिक्त वहाँ किसी का अस्तित्व ही शेष नहीं रह गया था।

महामात्य की पुत्रवधू के उस भक्तिप्रेरित नृत्य ने दर्शको की भावना के किसी दूसरे ही लोक म पहुँचा दिया। दुग्धस्नात पाटल पुष्प के समान उसका सिन्दूर धवल मुख, नीले चीनाशुक परिधानो म ऐसा दिखाई देता था जैसे कृष्ण घनमाला में शुक्लपक्ष का चन्द्रमा ही छाया गया हो। कुलीनता के तेज ने सुहाग के गौरव ने और मातृत्व की स्निग्धता ने सरस्वती के मुख को, एक मोहक गरिमा से मण्डित कर दिया था। भक्ति के रूप मे अर्चना की विविध मुद्राओ के साथ, उस सुदर्शना पुजारिन का तडित वेग-सा झकृत पग निक्षेप वहाँ दूसरी नीलाजना का भ्रम उत्पन्न करता था। दिव्य था उसका रूप और अलौकिक था उसका नृत्य।

सूर्योदय की ललिमा ने जब धरती पर गुलाल बिखेरना प्रारम्भ किया, तब तक मृदगम पर पडनेवाली थाप म तनिक-सी भी शिथिलता उस रात मैंने नही सुनी।



४० प्रतिष्ठापना-महोत्सव

गोमटपुर

प्रारम्भ में जब यहां मूर्ति के निर्माण का कार्यारम्भ हुआ था, तभी से महामात्य का वह अस्थायी कटक एक सुविधा-सम्पन्न ग्राम के रूप में परिणत होना प्रारम्भ हो गया था। अनेक वस्त्रावास और पट-मण्डप, धीरे धीरे पाषाण निर्मित स्थायी भवनों का रूप प्राप्त कर चुके थे। अब तक यहां जिनालय और दानशाला, औषधालय और पाठशाला, सभागार और प्रेक्षागृह, कूप और जलाशय, सब अस्तित्व में आ चुके थे। अन्न, वस्त्र और भाण्ड आदि के विनिमय के लिए उधर जलाशय के किनारे, जो छोटी-सी हाट प्रारम्भ में बस गई थी अब उसका भी विस्तार हो रहा था। क्रेता और विक्रेता दोनों की संख्या वहां प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। महामात्य के नाम पर यह श्रवणबेलगोल अब 'गोमटपुर' के नाम से विख्यात होता जा रहा था। महोत्सव में पधारनेवाले अतिथियों के लिए चारों ओर दूर-दूर तक अस्थायी वस्त्रावास और पत्र मण्डप बनाये जा रहे थे।

स्निग्धता का संस्कार

विन्ध्यगिरि पर बाहुबली प्रतिमा को स्निग्धता प्रदान करने का कार्य चल रहा था। यही वह प्रक्रिया थी जिसने सहस्रों वर्षों के लिए इस अनुपम कलाकृति को प्राकृतिक क्षरण से और काल के विनाशक प्रभाव से सुरक्षित रखने का कार्य किया है। देखते हो न, आज भी उस प्रतिमा में सद्य निर्मित मूर्ति जैसी ही चमक दमक विद्यमान है।

सर्वप्रथम उन लोगों ने पाषाण चूर्ण का मिश्रण लगाकर, काष्ठ के गीले गुटकों से पूरी प्रतिमा का घर्षण और मार्जन किया। पश्चात् अनेक

खनिजों और वनस्पतियों के योग से बनाया गया लेप, बार-बार प्रतिमा पर लगाया तथा नारिकेल की जटाओं और रज्जुओं से, उस लेप के साथ अनेक दिवस तक वे प्रतिमा को चिकनाते रहे। अन्त में नारिकेल के ही खोपरे से उसके एक-एक अवयव को सहस्रों बार घिसने पर पाषाण में यह स्निग्धता प्रकट हुई, यह निखार आया। उसी के कारण आज सहस्र वर्ष उपरान्त भी, तुम्हें यह मूर्ति ऐसी दिखाई देती है मानो अभी कल ही रूपकार ने इसे गढ़कर सम्पन्न किया हो। कठोर पाषाण पर यह कोमल स्निग्धता लाने के लिए उनके कलाकारों ने एक मास से अधिक काल तक अहर्निश जैसा परिश्रम किया वैसा ही सराहनीय रूप और वैसी ही स्थायी चमक, इस मूर्ति में प्रकट करने में उनका प्रयास सफल हुआ। उनका श्रम सार्थक हो गया।

त्यागद ब्रह्मदेव

ब्रह्मदेव दक्षिण भारत के जनमानस के देवता हैं। प्रायः प्रत्येक देव स्थान के समक्ष शासन देवता के रूप में इनकी स्थापना होती है। ब्रह्मदेव की मूर्तियाँ एक ऊँचे स्तम्भ पर अश्वारोही के रूप में बनायी जाती हैं। इनके हाथों में फल और चाबुक तथा पैरों में पादुकाएँ रहती हैं। कर्नाटक में प्रायः सभी धर्मों और सम्प्रदायों में इन्हें एक जैसा सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है।

एक निरन्तर जागरूक और सतत सन्नद्ध यक्ष के रूप में ब्रह्मदेव की कल्पना की गयी है। जन्म से मरण तक जो थककर बैठना जानता ही नहीं, भोजन-पान, निद्रा और विश्राम, सब कुछ खड़े ही खड़े जो कर लेता है, जल थल में सर्वत्र जिसकी गति है, जो अत्यन्त चलिष्ठ और चपल है, ऐसे वाहन पर अश्व पर बैठे हुए यक्षराज, आठों प्रहर, तीसों दिन, बारहों मास, अपने आराध्य की सेवा के लिए और उनके भक्तों की सहायता के लिए तत्पर रहते हैं ऐसी मान्यता है। उनकी पादुकाएँ पवित्रता का प्रतीक हैं। उनके एक हाथ में साधर्मियों के लिए उनकी सद्भावना और उदारता का संकेत देता हुआ फल है। दूसरे हाथ में चाबुक धार्मिकजनों के लिए अभय प्रदान करता है तथा धर्मद्रोहियों को दण्डित करने की उनकी शक्ति और संकल्प का परिचायक होता है।

पण्डिताचार्य के परामर्श के अनुसार, लोकभावना का आदर करते हुए, और धार्मिक समन्वय की भावना को सम्मान देते हुए, चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि पर, बाहुबली प्रतिमा के सामने कुछ नीचे की ओर एक उत्तुंग और सुन्दर स्तम्भ पर ब्रह्मदेव की मूर्ति स्थापित करायी। इस

स्तम्भ पीठिका पर स्वयं चामुण्डराय को भी बैठे हुए दिखाया गया है। इस 'त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ' की पीठिका चौकोर है। ऊपर की ओर सुन्दर लताओं से अलंकृत यह गोल स्तम्भ, शिल्प-सज्जा का एक सुन्दर प्रतीक है।

ब्रह्मदेव स्तम्भ के चारों ओर चार सादे स्तम्भों का यह मण्डप और उसके ऊपर यह जो देव कुलिका आज तुम देखते हो, यह प्रारम्भ में यहाँ नहीं थी। कुछ समय उपरान्त स्तम्भ की शोभा-सुरक्षा के लिए इसका निर्माण किया गया।

इसी स्तम्भ पर बाहुबली प्रतिमा के निर्माण का पूरा इतिहास और वीरमार्तण्ड चामुण्डराय की प्रशस्ति उत्कीर्ण की गयी थी। कालान्तर में एक मन्दिर निर्माता ने अपनी प्रशस्ति अंकित कराने के लिए, उस प्राचीन प्रशस्ति को घिसवाकर नष्ट कर दिया। अब उसका केवल प्रारम्भिक चतुर्थांश ही तुम लोगों को उपलब्ध है।

मैं देखता हूँ पथिक, कि जगत् की यही परम्परा है। तुमने सुना होगा कि आदि सम्राट चक्रवर्ती भरत ने भी वृषभाचल की शिला पर इसी युक्ति से अपनी दिग्विजय की यशोगाथा किसी दिन उत्कीर्ण करायी थी।

महोत्सव की संयोजना

जैसे-जैसे प्रतिष्ठापना महोत्सव का दिन निकट आ रहा था, वैसे ही कमे उसकी बहुविध संयोजना के काम यहाँ हो रहे थे। इस अवसर पर आने के लिए बहुत दूर-दूर तक साधर्मीजनों को निमन्त्रण भेजे गये थे। प्रतिवेशी ग्रामों-नगरों से और दूर देशान्तरों से बहुसंख्यक यात्रियों के एकत्र होने की सम्भावना थी। उन सबके निवास विश्राम और भोजनादिक की सुविधाएँ एकत्र की जा रही थीं। भाण्डारिक ने अनेक प्रकार के अन्नों के स्तूप ही खड़े कर दिये थे। गौ-क्षेत्र में सहस्राधिक गौएँ बुलवाकर पाकशाला के लिए तथा अभिषेक के लिए दुग्ध का प्रावधान किया गया था।

यहाँ मेरे मस्तक से लेकर विन्ध्यगिरि के शीर्ष भाग तक, ग्राम्य कलाकार रुचिपूर्वक वन्दनवारों दीप मालाओं और रंग रेखाओं की सज्जा कर रहे थे। मेरे परिवेश में वैसा उत्सव फिर उसके उपरान्त कभी नहीं हुआ। भाँति भाँति के वस्त्राभरणवाले देश-देशान्तर के इतने स्त्री-पुरुष फिर कभी यहाँ एकत्र हुए हों, ऐसा मैंने नहीं देखा। इतने उत्साह के साथ, ऐसी विशाल संयोजनापूर्वक गोमटेश का महाभिषेक भी उसके

बाद कभी नही हुआ।

इधर कुछ समय से प्रति बारहवें वर्ष बाहुबली के 'युग महाभिषेक' की जो परम्परा तुम लोगो ने प्रारम्भ की है, देखता हूँ उसमे नित प्रति नवीनता और विराटता का समावेश हो रहा है। यदि इसी प्रकार उत्कर्ष होता रहा, तो किसी दिन यह महामस्तकाभिषेक तुम्हारे देश का विशाल तम महोत्सव हो सकता है। यह सहज सम्भव है क्योकि सहस्र वर्ष पूर्व की और आज की स्थितियो मे बडा अन्तर है। मुझे स्मरण है तब मनुष्यो की सख्या इतनी अधिक नहीं थी। ग्राम, जनपद और निवास बहुत विरल थे। आवागमन के साधन भी इतने शीघ्रगामी और सुविधापूर्ण नही थे। दूरगामी साधनो का तो अभाव ही था। निर्माण के साधनो का यन्त्रीकरण भी तब नही हुआ था। मनुष्य की देह-शक्ति के द्वारा ही सारे कार्य सम्पन्न होते थे। कही-कही उनमे वृषभ, अश्व और गज आदि पशुओ का योगदान अवश्य मिल जाता था। उस सबकी तुलना मे आज तुम्हारे पास अधिक साधन हैं, अधिक सुविधाएँ हैं।

तुम्हारी यह पीढी भाग्यवान है पथिक कि सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना महामस्तकाभिषेक महोत्सव मनाने का सुअवसर तुम्हे मिला है। चामुण्डराय की पचासवी पीढी के द्वारा आयोजित यह उत्सव जनसख्या और साधनो की वृद्धि के अनुपात से उस प्रथम प्रतिष्ठापना महोत्सव से पचास गुना विशाल होना चाहिए। अब देखकर ही अनुमान कर पाऊँगा कि तुम लोग कहा तक इस अनुपात की रक्षा कर पाते हो। तुम्हारे प्रयत्न और तुम्हारा उत्साह तो आशाजनक लगते हैं।

एक मास की वह समयावधि देखते ही देखते व्यतीत हो गयी। उत्सव की रूपरेखा म दिन प्रति दिन निखार आने लगा। नेमिचन्द्राचार्य और चामुण्डराय के श्रद्धास्पद गुरु मुनिनाथ आचार्य अजितसेन महाराज बकापुर से गोमटपुर के लिए विहार कर चुके थे। शीघ्र उनके यहाँ पधारने की सम्भावना थी। गगराज भी उस अवसर पर यहा पधार कर बाहुबली का अभिषेक करगे, ऐसी चर्चा सुनाई देती थी। अनेक साधुओ और त्यागीजनों का आना प्रारम्भ हो गया था।

शीघ्र ही मेरे सहोदर को, इस विन्ध्यगिरि को, जो गरिमा, जो प्रतिष्ठा और जो प्रसिद्धि मिलनेवाली थी उसकी कल्पना मुझे पुलकित कर रही थी।

४१ महोत्सव के मान्य अतिथि

आचार्य अजितसेन

महोत्सव के इस अवसर पर अनेक दिगम्बर आचार्यों मुनियों के संघ दूर दूर से विहार करके यहाँ पधारे थे। उन दिनों बंकापुर श्रमण संस्कृति और जैन विद्या का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ का ऋषि-आश्रम कर्नाटक का तिलक कहलाता था। अनेक मुनि आर्यिकाएँ, क्षुल्लक और त्यागी प्रायः वहाँ बने रहते थे। विद्यापीठ के सहस्रों विद्यार्थी सरस्वती की उपासना करते थे। आचार्य अजितसेन उस विद्यापीठ के कुलगुरु थे। कर्नाटक के प्रभावक और पूज्य आचार्य थे। उस समय चौलुक्यों पर राष्ट्रकूटों का स्वामित्व था। राष्ट्रकूट और गंगनरेशों के मुकुट एक साथ उन महिमामय तपस्वी के चरणों में झुकते थे। विद्यापीठ की सहायता के लिए जन सहयोग और राजकोष दोनों की उदारता उपलब्ध रहती थी।

बंकापुर के आश्रम का सरस्वती भण्डार बहुत समृद्ध था। मैंने सुना था कि जैन वाङ्मय का ऐसा कोई ग्रन्थ शास्त्र नहीं है जिसकी प्रति वहाँ उपलब्ध न हो। शास्त्रों की प्रतियाँ बराबर वहाँ से दूर-दूर तक भेजी जाती थीं। निरन्तर अनेकों लिपिकार वहाँ शास्त्रों की प्रतियाँ उतारते रहते थे। आश्रम के लिए हाथियों पर लादकर ताडपत्र लाये जाते थे। अजितसेन आचार्य सदैव अपने भक्तों को जैन धर्म, संस्कृति और साहित्य के प्रचार प्रसार की प्रेरणा देते रहते थे।

चामुण्डराय का विद्याभ्यास इसी विद्यापीठ में इन्हीं श्रीगुरु के चरणों में बैठकर हुआ था। बाल्यावस्था में नेमिचन्द्र महाराज का प्रारम्भिक शिक्षण भी यहीं हुआ था। आचार्य महाराज के अनुरोध, और महामात्य की प्रार्थना पर आचार्य अजितसेन अपने शिष्यों प्रशिष्यों

के पूरे संघ के साथ तीन दिवस पूर्व ही यहां पधारे थे। उस दिन दो कोस आगे जाकर आचार्यश्री ने और महामात्य ने अपने गुरुदेव की अगवानी की थी। विद्यापीठ के प्राय सभी विद्वान् और शिक्षार्थी ब्रह्मचारी, उनके अनुगामी होकर आये थे। उस दिन लगता था कि समूचा बंकापुर स्थानान्तरित होकर श्रवणबेलगोल में आ बसा है। यहीं पर्वत पर प्रति-दिन प्रात काल आचार्यश्री का प्रवचन होता था।

अत्यन्त वृद्ध तथा अशक्त हो जाने के कारण, नेमिचन्द्राचार्य के दीक्षागुरु अभयनन्दी आचार्य का आगमन नहीं हो सका था। उन्होंने कुछ शिष्यों के साथ महामात्य के लिए एक शास्त्र और अपना मंगल आशीर्वाद प्रदान किया था। यह समाचार भी उन शिष्यों से मुझे सुनने को मिला कि अभयनन्दि महाराज ने समाधि-साधना के लिए क्षेत्र-संन्यास ग्रहण कर लिया है। आचार्यश्री के दोनों विद्यागुरु मुनि वीरनन्दी और मुनि इन्द्रनन्दी, दस दिवस पूर्व से ही यहां विराज रहे थे। आचार्यश्री के शिष्यों का तो उन दिनों यहां सम्मेलन ही हो गया था। सहस्राधिक दिगम्बर संत महामहोत्सव के उस मेले में सहज ही यहां एकत्र हो गये थे। लोग चर्चा करते थे कि उनकी संख्या में यहां और भी वृद्धि होनेवाली है। कुछ विरागी साधक इस महोत्सव में ही दीक्षा लेने की भावना कर रहे थे।

महासती अत्तिमब्बे

अतिथि तो उस मेले में अपार आये थे पथिक! एक से एक महिमा-मण्डित नररत्न यहां बिखरे थे। उनमें एक थीं कर्नाटक की देवी अत्तिमब्बे, जिसे आज भी सबसे अधिक सबसे पृथक् मैं स्मरण करता हूँ। तैलप सम्राट् आहवमल्ल के प्रधानसेनापति सुभट मल्लप के साथ चामुण्डराय की प्रगाढ़ मित्रता और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध थे। अत्तिमब्बे इन्हीं मल्लप की लाडली बेटी थी। प्रारम्भ से ही उस पर मातेश्वरी का भी अपूर्व स्नेह था। उन्होंने बड़े आग्रह से उसे आमन्त्रण भेजा था।

असमय वृद्ध और श्रम जर्जरित अत्तिमब्बे, न मातेश्वरी का आदेश टाल सकी, न गोमटेश के दर्शन का प्रलोभन जीत सकी। गाँव-गाँव में दीन-दुखियों का दुःख निवारण करती, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जन सेवा का व्रत निर्वाह करती हुई वह बाहुबली के दर्शनार्थी भक्तों का बड़ा भारी समुदाय, अपने ही व्यय पर साथ लेकर, पद-यात्रा करती इस ओर आयी थी। चन्नराय पट्टन तक उसका आगमन सुनते ही मातेश्वरी ने जिनदेवन और सरस्वती को उसकी अगवानी के लिए भेज दिया था।

अपराह्न के समय अत्तिमब्बे का आगमन हुआ था। उधर नीचे, उस स्थल पर, जहाँ तुम लोगों ने महावीर निर्वाण महोत्सव की स्मृति में अब धर्मचक्र-स्तम्भ बनाकर वाटिका लगा दी है, वहीं नगर का स्वागत द्वार था। वहीं, द्वार पर सपरिवार आकर महामात्य ने उस महिलारत्न का स्वागत किया। सम्मानपूर्वक अत्तिमब्बे ने उन्हें तथा अजितादेवी को प्रणाम किया।

उस समय का दृश्य देखने योग्य था। प्रवासी मातेश्वरी अत्तिमब्बे के स्वागत के लिए आगे बढ़ रही थीं। वय में बड़ा अन्तर था, परन्तु दोनों श्वेतवसना, दोनों धवलकेशिनी। तन मन से दोनों ही पावन और पवित्र। शुभ्रता उनके व्यक्तित्व में भर नहीं, कृतित्व में भी व्याप्त होकर चमक रही थी।

बीस वर्ष पूर्व काललदेवी ने एक दिन दुलहन बनी अत्तिमब्बे को देखा था। अनगिनते आशीष दिये थे। मरकत मणि की पार्श्वनाथ प्रतिमा का अनमोल उपहार दिया था। तब सुन्दर सुकन्या अत्तिमब्बे, गुड़िया-सी लगती थी। थोड़े ही समय में असमय वैधव्य के ताप से तप्त उसकी कंचन देह अब श्यामल और जर्जर हो गयी थी। सूक्ष्म आहार और अधिक परिश्रम ने उसे निष्प्राण-सा कर दिया था। देखते ही काललदेवी अवाक् रह गयी। उन्हें लगा जैसे किसी पुराण के प्रारंभिक कथानक को पढ़ते पढ़ते, सब का पत्र अनपढ़े ही पलट गये हों और असमय में उपसंहार सामने आ गया हो।

'कैसी है अत्तिमब्बे, यह क्या हो गया है तुझे ?'

स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए मातेश्वरी ने पूछा। मुझे लगा जैसे शक्ति ने साधना के सिर पर हाथ रख दिया हो।

'अच्छी हूँ मामी, तुमने तो दीर्घकाल से खबर ही नहीं ली।'

मीठा उपालम्भ देती हुई अत्तिमब्बे ने मातेश्वरी के चरण-स्पर्श कर लिये, जैसे कर्मठता ने प्रेरणा के पाँव छू लिये हों।

बाहों में भरकर मातेश्वरी ने उसे उठाया और छाती से लगा लिया, जैसे श्रद्धा और भक्ति का ही मिलाप हो रहा हो।

दो क्षण के लिए दोनों के मन अतीत की स्मृतियों में खो गये। आँखों की आर्द्रता आँसू सी टपक पड़ी। कण्ठ अवरुद्ध हो गये। शीघ्र ही अपने आपको सँभाल कर अत्तिमब्बे ने ही कहा—

मामी इस कलियुग में भी समवसरण धरती पर उतार लिया। पाषाण में कहाँ से इतनी कोमलता भर दी ? कई कोस से दर्शन करती आयी हूँ गोमटेश्वर के। यह तो लोकोत्तर काम किया है आपने।'

प्रेमपूर्वक कंधे पर हाथ रख ही कालनदेवी ने उत्तर दिया—

'तूने क्या कम काम किया है री! रत्न से कितनी बार तेरी कीर्ति सुन चुकी हूँ। तूने शनदा जैन शास्त्रों की प्रतियाँ कराकर कर्नाटक के घर घर में उन्हें पहुँचा दिया। सुनती हूँ आठ वर्ष में तैयार होनेवाली धवल, जयधवल की सौ-सौ प्रतियाँ तूने जिनालयों में स्थापित करवायी। पन्द्रह सौ स्वर्ण प्रतिमाओं का दान तेरे हाथों से हुआ यह क्या सामान्य बात है बेटी?'

न जाने कब तक यह स्नेह वार्ता चलती पर सरस्वती ने व्यवधान बनकर ही इसे समाप्त किया।

'ऐसे खड़े-खड़े बोलने से तो दोनों थक जाओगी दीदी। घर चलो, सब लोग थके हैं। विश्राम भोजन की बेला है।'

कन्नड का रससिद्ध कवि रत्न इस महिलामणि का गुणगान करते कभी थकता नहीं था। उसी से मैंने भी अत्तिमब्बे की कीर्ति सुनी थी।

चालुक्यराज के सेनापति नागदेव की गुणवती भार्या अत्तिमब्बे यौवनकाल में ही विधवा हो गयी थी। एक वर्ष का एक बालक ही उसका जीवनाधार था। उसी के पालन-पोषण में उसने समतापूर्वक अपना कालयापन किया। अजितसेन महाराज के उपदेश से धर्म के प्रचार प्रसार में उसकी रुचि हुई। माता की ओर से दी हुई और पति की छोड़ी हुई कुबेर की-सी सम्पदा की वह स्वामिनी थी। उसने कर्नाटक से अविद्या और अधर्म का निराकरण करने में तथा ज्ञान और धर्म के प्रसार में वह सारी सम्पत्ति लगा दी। उसके अतिशय त्याग की कहानियाँ देश भर में प्रचलित हो गयी थीं।

प्रत्येक विवाह के अवसर पर नव-दम्पत्ती को शान्तिनाथ का एक स्वर्ण विग्रह, और एक शास्त्र, अत्तिमब्बे का उपहार होता था। सदाचार की प्रतिष्ठा के साथ साथ कम से कम पाँच शास्त्र लिखवाने की वह उन्हें प्रेरणा देती थी। गाँव-गाँव में पाठशाला, कुआँ, धर्मशाला आदि की स्थापना कर रानी दीन-दुखियों की सेवा करती थी। इसलिए वह 'दान चिन्तामणि' अत्तिमब्बे कहलायी। सबकी आवश्यकताएँ उदारता से पूरी करने के कारण वह 'जंगम कल्पलता' कही गयी। उसके मुख से निसृत हरेक वचन सत्य और सार्थक हो जाता था इसलिए कहा जाता था कि उसे 'वाक्‌सिद्ध वर' प्राप्त है।

अत्तिमब्बे का सतीत्व और जिनेन्द्रभक्ति दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गयी थी। कहा जाता है कि विपत्तिकाल में पुत्र की सहायता के लिए अपनी भक्ति शक्ति से, एक बार क्षण भर के लिए उमड़ती हुई तुंगभद्रा

नदी का प्रवाह उसने रोक दिया था। उसके स्पर्श मात्र से रोगी बालक नीरोग हो जाते थे। इन अतिशयों के कारण उसे 'भवन शिरोमणि' 'चतुस्समय सरक्षिका' और 'सस्कृति मुकुटमणि' कहकर उसका आदर किया जाता था।

रन्न द्वारा अत्तिमब्बे की ऐसी सम्स्तुति में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं थी। वह महिलारत्न वास्तव में कर्नाटक की देवी थी। महाकवि रन्न ने अपने अजितनाथ पुराण में, उपसहार के साथ उसके यशोगान के लिए एक पूरा अध्याय रचा था। अत्तिमब्बे जैसी विदुषी, गुणवती और कल्याणी नारी हमारे कर्नाटक के इतिहास में दूसरी नहीं हुई। शताब्दियों तक नाग सती गुणवती नारियों को 'अभिनव अत्तिमब्बे' कहकर इस महासती का गौरवपूर्ण स्मरण किया करते थे।

गगनरेश राचमल्ल

महामात्य के आग्रह भरे आमत्रण का सम्मान करते हुए गगराज, जगदेकवीर धर्मावतार नरेश राचमल्ल, अपने परिवार और परिकर सहित इस समारोह में आये थे। जिनवन्दना और साधुवन्दना के लिए उस दिन प्रात काल जब वे यहाँ पधारे तब बड़े अन्तराल के उपरान्त मैंने उन्हें देखा था। वार्धक्य के सूचक चिह्न कुछ अधिक ही उग्रता के साथ उनके मुख पर मुझे दिखाई दिये। रोगो ने भी उन्हें कुछ अशान्त-सा कर दिया था। इस पर भी उस गदा विजेता वीर नरेश के प्रतापी और प्रभावशाली व्यक्तित्व की ठसक में कोई विशेष अन्तर मुझे नहीं लगा।

राजपुरुषो को गगनरेश की ओर से राजकीय आमत्रण भेजे गये थे। अत अनेक छोटे बडे नरेश सामन्त, राजपुरुष तथा धर्मगुरु भी इस महोत्सव के निमित्त यहाँ एकत्र हुए थे। समीपवर्ती अनेक धर्मस्थानो के वीर शैव एव वैष्णव सन्त महन्त और जनेतर नागरिक भी बड़ी सख्या में उस दिन उपस्थित थे। पूरे कर्नाटक देश में दूर-दूर तक नेमिचन्द्राचार्य की ख्याति थी। जैन जैनेतर सभी उनका भारी सम्मान करते थे। अनेक वीर शैव और वेदान्ती दार्शनिक उनके भक्त थे। अपनी धार्मिक सहिष्णुता, महान् विद्वत्ता और निस्पृह कठोर साधना के कारण उनकी बड़ी मान्यता थी। गगनरेश और महामात्य की आचार्य के चरणो में श्रद्धा भक्ति थी, इस कारण एक प्रकार से राजगुरु की तरह प्रजाजन उनका आदर करते थे। उनके वात्सल्यपूर्ण सद्व्यवहार के कारण यह अतिथि समुदाय अनायास ही यहाँ एकत्र हो गया था।

बाहुबली भले ही जन आख्यान के राजकुमार महापुरुष रहे हों पर, यहाँ गोमटेश के रूप मे, इस अल्पकाल म ही वे धर्मों और सम्प्रदायो से परे जनमानस म प्रतिष्ठित लोकदेवता का रूप ग्रहण कर चुके थे। उनके इस विलक्षण विग्रह की विख्याति इतने दिनो म ही दक्षिण सागर से हिमालय तक फल चुकी थी। इन गोमटेश के दर्शन का आकर्षण भी सकडो योजन से लोगो को यहाँ खीच लाया था।

महामात्य की निर्देश देकर आचार्यश्री न देश-देशान्तर के अनेक ख्यातिलब्ध जिज्ञासुओ विद्वानो, कवियो, कलाकारो और साधकों को इस उत्सव मे आमन्त्रित कराया था। सामान्यजनो के लिए ग्रामो जनपदो म आमूल चूल निमन्त्रण भजे गये थे अत पुष्कल जन समुदाय यहाँ एकत्र हुआ था। महामात्य अपने गोमटेश की उस लोकपूज्य मान्यता को ही अधिकाधिक प्रश्रय देना चाहते थे। इसलिए उनके दर्शनो के लिए वर्ण या जाति का ऊँच या नीच का, छोटे या बडे का, कोई बन्धन उन्होने यहाँ नही लगाया था।

यहाँ गोमटेश्वर सबके भगवान थे। सब उनके भक्त थे।



४२ महाभिषेक

बड समारोह से महो सव प्रारम्भ हुआ। नर नारियो का विशाल समूह महाभिषेक देखन के लिए वहाँ एकत्रित था।

उस दिन विन्ध्यगिरि की सज्जा दशनीय थी। पूरे पवत का पथ झालरो, वल्लरियो, पुष्पो और रग रेखाओ स अलकृत किया गया था। यहाँ से मेरा वह सहोदर एव विशाल नीलाभ सिहासन-सा लगता था, जिस पर गोमटश की प्रतिमा अदभुत प्रभुता के साथ विराजमान दिखाई देती थी। पत्रो, पुष्पो की वह सज्जा उस सिहासन का, विचित्र वणवान रत्न झालरो की-सी शोभा प्रदान करती थी।

उस सतरगे परिकर के मध्य म गोमटश उस दिन कुछ भिन्नक्षण ही सुदर लग रहे थे। पूर्वोत्तर कोण से आनवाली उत्तरायण सूय की प्रात कालीन किरण उनके मुखमण्डल का प्रतिक्षण नयी ताजगी देकर दशका की दृष्टि का अनिवचनीय आनन्द दे रही थी। उस पवत पर से और यहाँ से भी, अनगिनते लोग हृष विभोर होकर मस्तकाभिषेक का वह दुलभ दृश्य देख रहे थे।

गोमटेश के दोनो पाश्व भागो मे और पृष्ठ भाग म भी तीनो ओर स काष्ठफलक बाँध-बाँधकर ऊपर मच तक सुडौल सीढियाँ बनाई गयी थी। सीढियो पर अनेक रगो से चित्रकारी और पुष्पो से उनकी सज्जा की गयी थी। भरे हुए मगल कलश दशको की दृष्टि मे रह, और रिक्त कलशो पर किसी की दृष्टि न पडे इसलिए पाश्व की सीढियो पर दोनो ओर से कलश लेकर, ऊपर जाने का प्रावधान था और रिक्त कलश लेकर पीछे की ओर नीचे उतरने के लिए माग दिया गया था।

महामात्य और अजितादेवी तथा जिनदेवन और सरस्वती पीत परिधानो मे सजे थे। उनके सिर पर रत्नमुकुट पहिनाकर इस अनुष्ठान

के लिए उनमें इन्द्र और इन्द्राणी की कल्पना की गयी थी। ऊपर मंच पर गोमटेश के शिरोभाग के पास दाहिनी ओर चामुण्डराय दम्पती और बायीं ओर उनके पुत्र तथा पुत्र वधू अभिषेक के लिए खड़े हुए।

प्रतिष्ठा के विधि विधान आचार्यश्री के सान्निध्य में सम्पन्न हुए, तत्पश्चात् पण्डिताचार्य के द्वारा पवित्र मन्त्रोच्चार के साथ ही उन कलशों की दुग्ध धारा, गोमटेश के मस्तक पर गिरकर उनके शरीर पर प्रवाहित होने लगी। मन्त्रों की लयबद्ध मधुर ध्वनि के साथ समवेत होती हुई, भगवान् के मस्तक पर ढरते कलशों की ध्वनि कानों को अत्यन्त प्रिय लगती थी। अभिषेक का वह दृश्य अनुपम ही था।

तब के बाहुबली

तब तक विन्ध्यगिरि के शिखर पर बाहुबली की प्रतिमा और त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ का ही निर्माण हुआ था। बाहुबली की परिक्रमा में चौबीसी की वेदिकाएँ, वह प्रवेश द्वार, मण्डप और परकोटा और प्राचीर, जो आज तुम वहाँ देख रहे हो कुछ भी उस समय वहाँ नहीं था। किसी दूसरे जिनालय के निर्माण का प्रारम्भ उस पर्वत पर तब तक नहीं हुआ था। ऊपर पर्वत पर जाने के लिए सीढ़ियोंवाला यह मार्ग भी उस समय नहीं था।

बाहुबली भगवान् तब विन्ध्यगिरि के शिखर पर, अप्रच्छन्न ही विराजमान थे। तुमने तो यहाँ से वह सम्पूर्ण छवि देखी ही नहीं पथिक! तुम्हारे अत्यधिक सावधान और दूरदर्शी पूर्वजों ने, थोड़े ही काल में गोमटेश के चारों ओर पौर पगार, तोरण और प्राचीर खड़ी करके, मुझे भी उस छवि के दर्शन सुख से सदा के लिए वंचित कर दिया। तुम तो आज भी समक्ष जाकर उनके समग्र दर्शन का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हो, पर मुझे तो अब उनकी मुख छवि के दर्शन से ही सन्तोष करना पड़ता है।

आकस्मिक व्यवधान

बड़े उत्साह के साथ महामात्य और उनके कुटुम्बीजनों ने अभिषेक प्रारम्भ किया था, पर, सहसा जनसमूह को विस्मित कर जानेवाली एक विचित्र घटना वहाँ घट गयी। भगवान के मस्तक पर धारा छोड़ने में कलश के कलश रीतते गये, परन्तु पूरी प्रतिमा का अभिषेक सम्पन्न नहीं हो पाया। आश्चर्य की बात थी कि भगवान् के चरणों तक पहुँचने के पूर्व ही, दुग्ध की वह धारा न जाने कहाँ विलीन हो जाती थी। गोमटेश घुटनों तक तो दुग्धस्नात दिखाई देते थे, परन्तु उनका उससे नीचे का भाग, सूखा का

सूखा ही रह जाता था।

पहले कुछ समय तक तो यह विलक्षणता महामात्य की दृष्टि में आयी ही नहीं। कुछ समय तक पण्डिताचार्य भी प्रतीक्षा करते रहे कि, इस कलश से नहीं तो अगले कलश से, अभिषेक पूर्ण होगा, परन्तु अधिक देर तक वे इस व्यवधान को सह नहीं पाये। मन्त्रोच्चार रोकते हुए, प्रदक्षिणा में घूम घूम कर उन्होंने अवलोकन किया। वे जानना चाहते थे कि दुग्ध की वह धार कहाँ विलीन हो जाती है। महामात्य और जिनदेवन भी मंच से उतरकर अत्यन्त चिन्तित और विस्मित, इस रहस्य के अनुसन्धान में चारों ओर से मूर्ति को देख रहे थे। इन लोगों के मन का समाधान दे सके, ऐसा कोई सूत्र वहाँ मिला नहीं।

पण्डिताचार्य ने सूक्ष्मता से निरीक्षण किया। शासन देवता को हविष्य प्रदान किया जा चुका था। इन्द्र, वरुण, मरुत और अग्नि अपनी समिधा प्राप्त कर चुके थे। अष्ट दिक्पालों की और कूष्माण्डिनी महादेवी की स्थापना यथाविधि हो चुकी थी। अनुष्ठान में कोई प्रमाद या विघ्न का कोई कारण, उन्हें अब वहाँ दिखाई नहीं दे रहा था।

मन्त्रोच्चार में कहीं कोई प्रमाद हुआ है, अथवा अभिषेक में विधि-विधान में कोई अशुद्धि रह गयी है, ऐसा सोचकर, अभिषेक करनेवाले सभी जनों ने स्नान करके पुनः शुद्ध वस्त्र धारण किये। दुग्ध से भरकर कलश पुनः ऊपर पहुँचाये गये और सावधानीपूर्वक अनुष्ठान में विधि-विधान पूरे करते हुए पुनः अभिषेक प्रारम्भ हुआ। विधि-विधान अब पूर्णतः निर्दोष था, परन्तु शतशः कलशों के पुनः रीते जाने पर भी अभिषेक के दुग्ध से भगवान् के चरणों का प्रक्षालन इस बार भी नहीं हो पाया। लगता था यह अभिषेक अब कभी पूरा नहीं हो पायेगा। चामुण्डराय की कीर्ति-पताका जो आज झुकी जा रही है, सो अब झुकी ही रहेगा।

काललदेवी ने इस घटना को धर्म की प्रभावना में उपसर्ग मानकर, अभिषेक सम्पन्न होने तक के लिए अन्न जल का त्याग कर दिया। वे माला लेकर वहीं शान्तिनाथ भगवान् के स्मरण में एकाग्र हो गयी। उनके नेत्रों से अश्रु ढरक रहे थे।

महामात्य अत्यन्त कातर और अधीर होकर नेमिचन्द्राचार्य की ओर देख रहे थे। अजितादेवी और सरस्वती की आँखों में अश्रु छलक आये। पण्डिताचार्य और जिनदेवन भी व्यग्र हो उठे। उन्होंने आचार्य महाराज से उपाय पूछा। नेमिचन्द्राचार्य महाराज देख रहे थे कि अभिषेक का विधि विधान त्रुटि रहित है। मन्त्रोच्चार निर्दोष है। उन्होंने सबको धैर्यपूर्वक भगवान् का गुणानुवाद करने का परामर्श दिया।

महामात्य सोचते थे कि ऐसी अनुपम प्रतिमा का निर्माण कराने से लोक में उनका जो यश हुआ है, यदि यह अभिषेक अपूर्ण रहता है तो, आज ही वह सारा यश धूमिल पड़ जायगा। चाहे जितना दुग्ध लाना पड़े चाहे जितना व्ययसाध्य अनुष्ठान करना पड़े परन्तु यह अभिषेक पूर्ण होना ही चाहिए।

पण्डिताचार्य विचारते थे कि आज तक कभी उनके किसी अनुष्ठान में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई। वे समझ नहीं पाते थे कि इस व्यवधान का कारण क्या है? किस त्रुटि के कारण उन्हें यह कलंक लग रहा है। उनकी किस त्रुटि के कारण यह अनुष्ठान असफल हो रहा है। वे भी अभिषेक के इस अदृश्य व्यवधान से चिंतित और अधीर हो उठे। उन्हें एक उपाय यह सूझा कि एक बार अन्य जनों को अभिषेक करने का अवसर दिया जाय। सम्भव है केवल महामात्य या उनके कुटुम्बी जनों के लिए ही कोई विघ्न उपस्थित हुआ हो। अन्य जन अभिषेक करेंगे तब यह बाधा दूर भी हो सकती है।

क्षणमात्र में ही जनसमूह में हलचल-सी फैल गयी। अनेक श्रद्धालुजन अभिषेक करने के लिए वहाँ उपस्थित थे। उन्हें अभिषेक करने का निर्देश दिया गया। बड़ी भक्तिपूर्वक बहुत पुलकित मन होकर वे सब लोग अभिषेक के लिए आये थे। उनके मन का उत्साह अदम्य था। परन्तु यह विघ्न देखकर वे शंकित हो उठे थे। उन्हें अपनी असफलता की आशंका सताने लगी थी। वहाँ सभी एक दूसरे का मार्ग देकर आगे भेजने को तैयार थे, पर पहले कलश ढारने का साहस कोई जुटा नहीं पा रहा था।

पण्डिताचार्य ने उनमें से अनेकों का नाम ले-लेकर प्रेरित किया, तब किसी प्रकार अभिषेक प्रारम्भ हो सका। अब अनुष्ठान की दिशा बदल गयी थी। कलश ढारनेवाले हाथ बदल गये थे। परन्तु अदृश्य का वह विधान बदला नहीं था। असंख्य छोटे-बड़े कलशों की धारा के उपरान्त भी दुग्ध का एक बिन्दु तक भगवान् के घुटनों के नीचे नहीं पहुँच रहा था।

वे अयाचित परामर्श

जनसमूह इस बाधा को देखकर विचलित-सा हो गया। वहाँ अनेक लोग अनेक प्रकार की बातें करने लगे। किसी ने इस घटना में अनुष्ठान का दोष देखा। किसी ने आयोजन की प्रक्रिया को दोषी ठहराया। जितने मुँह उतनी बातें होने लगीं। एक सज्जन का मत था—

मातेश्वरी के मन में बाहुबली के दर्शन की अभिलाषा थी। उन्हीं के

लिए भगवान् की मूर्ति का निर्माण हुआ। प्रथम कलश उनके हाथों से ही अर्पित होता तब यह व्यवधान नहीं होता।'

किसी चतुर ने अपना निराला ही मत घोषित किया—

'अरे जानते नहीं ये बाहुबली हैं, बाहुबली। दीक्षा लेने के उपरान्त केवलज्ञान के लिए, पूरे बारह मास तक खड़े रहे थे। अब अभिषेक के लिए कम से कम बारह दिन तक तो अवश्य प्रतीक्षा करायेंगे। देखना फिर अपने आप यह अभिषेक पूरा होगा।'

एक सज्जन ने अपने साथी के कान में कहा—

ये जो बामियां बनायी हैं भगवान् के चरणों में, इनके नाग-नागिनें क्षुधार्त होंगे। दुग्ध तो उनका प्रिय आहार है। वे ही सारा दुग्ध-पान कर जाते हैं। कलश बन्द नहीं करना चाहिए। नाग समूह तृप्त होगा तब स्वयं दुग्ध की धारा नीचे तक बह जायेगी।'

आचार्यश्री ने इस बीच पण्डिताचार्य और जिनदेवन के साथ मन्त्रणा की। उन्हें आशंका थी कि अवश्य यहां किसी के अन्तर में कोई शूल कसक गया है। उसे निर्मूल करने के लिए ही किसी कौतुकी शक्ति ने यह व्यवधान उपस्थित किया है। इस समस्या का समाधान भी यहीं हमारे ही आस पास होना चाहिए। देखना चाहिए इस समुदाय में कहीं कोई दुखी दरिद्री, तो शेष नहीं है।

नम्रतापूर्वक महामात्य ने आचार्यश्री से निवेदन किया—

महाराज! तीन दिन पूर्व से दानशाला के द्वार आठों प्रहर खुले हैं। द्वार पर आये प्रत्येक याचक की अतिथि के समान अभ्यर्थना होती है, और उसकी हर आकांक्षा पूरी की जाती है। यही आदेश है भाण्डारिक को। पीड़ित और रोगी ढूंढ-ढूंढकर औषधालय में लाये जा रहे हैं। उनकी चिकित्सा और सेवा हो रही है। कोई बहुरूपिया भले ही दुखी दरिद्री के वेष में अपनी कला दिखाता हुआ यहां मिल जाय अन्यथा कोसों दूर तक दरिद्रता और पीड़ा ढूंढने पर भी मिलना नहीं चाहिए इस मेले में।'

महामात्य का कथन यथार्थ है पर कौन जानता है व्यवधान का वह कारण किस रूप में हमें मिल जाय। समुदाय का सशोधन तो करना ही चाहिए।' यह पण्डिताचार्य का मत था।

जिनदेवन और सरस्वती का साथ लेकर पण्डिताचार्य अब स्वतः अपने समाधान की शोध में प्रवृत्त हो गये। उस विशाल जन-समुदाय में अलग-अलग दिशाओं में घूमते हुए उनकी आँखें किसी असन्तुष्ट अपरिचित को ढूंढ रही थीं। कौन है वह महाभाग जिसके योगदान के बिना अधूरा है यह अनुष्ठान? कौन है वह भक्त जिसकी शक्ति का आकांक्षी

है आज चामुण्डराय? चारों ओर इन लोगों की तीक्ष्ण दृष्टि, देर तक दूर-दूर तक भटकती रही। भगवान् के अभिषेक की कामना लेकर जितने लोग पर्वत पर आये थे, सब अपने-अपने कलश बाहुबली पर ढार चुके थे। अभिषेक की अपूर्णता से चिन्तित वहा सभी थे, पर दुखी दरिद्री और पीड़ित सचमुच वहा कोई दिखाई नहीं दे रहा था।



४३ गुल्लिका-अज्जी

अपने अनचीन्हे अभ्यागत को ढूंढती हुई सरस्वती पर्वत के दूसरे छोर तक पहुँच गयी। सहसा वहाँ उसकी दृष्टि एक दीन-सी दिखाई देने वाली वृद्धा पर पड़ी। मुख्य पथ के वन्दनवारों से थोड़ा हटकर, एक चट्टान के सहारे हाथ में वनफल की एक सूखी गुल्लिका लिये हुए, वह अपने आपको छिपाती सी वहाँ खड़ी थी। सरस्वती ने देखा वृद्धा के तन पर पुराना मलिन-सा परिधान था। तन पर अलंकार प्राय नहीं थे, पर वृद्धा का मस्तक सुहाग के तिलक से अलंकृत और मुख ऐश्वर्य की आभा से आलोकित था। उसके वेष का यह विरोधाभास सरस्वती की दृष्टि से छिपा नहीं रहा पर अभी इस सम्बन्ध में किसी जिज्ञासा का प्रकाशन उसे उचित नहीं लगा। समीप जाकर प्रेमपूर्वक उसने वृद्धा से पूछा—

'यहाँ क्यों खड़ी है अम्मा ! अभिषेक कर लिया क्या ?'

'कहाँ बेटी ! वहाँ तक पहुँच ही कहाँ पाती हूँ। अनेक बार वहाँ जाने का जतन किया पर बार बार लौटा देते हैं मुझे। ठीक भी तो है, न मेरी देह पर अच्छे वस्त्र हैं न हाथों में सुन्दर पात्र है। दुग्ध भी तो थोड़ा-सा ही है मेरे पास। सोचती हूँ यहीं एक ओर खड़ी रहूँगी यह समुदाय कम होगा तब हो सकता है मार्ग मिल जाय।

उसी वाणी में वृद्धा ने अपना सबल संकल्प भी सरस्वती पर प्रकट कर दिया— जाकर एक बार प्रार्थना करूँगी महामात्य से। उनकी आज्ञा मिल गयी तो मेरा भाग्य जग जायगा। भगवान् के मस्तक तक तो मेरा हाथ पहुँच भी नहीं पायगा चरणों पर ही चढ़ा दूँगी यह दुग्ध।'

— अच्छा बेटी ! भगवान के चरणों के अभिषेक का भी पुण्य तो होता होगा ? वृद्धा ने अत्यन्त भोलेपन से प्रश्न किया।

'होता है अज्जी ! बहुत होता है। अभिषेक का सच्चा पुण्य तो

चरणाभिषेक में ही होना है। मस्तकाभिषेक तो उसकी भूमिका है। आओ, मैं ले चलती हूँ तुम्हें अभिषेक कराने।'

सरस्वती को अन्तस में कहीं लगा कि उसकी शोध साथक हो गयी है। जिसे ढूंढने के लिए वह निकली थी, उसे अनायास ही उसने पा लिया है। उसे विश्वास हो गया कि समस्या का उज्ज्वल समाधान, इसी मलिन परिधान में लिपटा हुआ उसके समक्ष प्रकट हुआ है। सरस्वती की कुशाग्र बुद्धि ने एक क्षण में ही समझ लिया कि अंजली भर दुग्धवाली यह गुल्लिका ही, क्षीरसागर का वह अक्षय कलश है, जिसकी महाधारा ने बारम्बार मेरु पर्वत को आप्लावित किया है। सरस्वती मन में आश्वस्त हो गयी कि गुल्लिका का यह अल्प दुग्ध, अकेले गोमटेश का नहीं, इस समूचे विन्ध्यगिरि का अभिषेक करने के लिए भी कम नहीं होगा।'

वर्षों से बिछड़े आत्मीयजन के अचानक मिल जाने पर तुम लोग जैसा मोह दिखाते हो वैसे ही मोहपूर्वक उस वृद्धा का हाथ पकड़कर सरस्वती चलने को हुई तभी उधर सामने से जिनदेवन आते दिखाई दिये। किंचित् सलज्ज भाव से मन का उत्साह उजागर करते हुए सरस्वती ने वृद्धा से कहा—

'लो महामात्य के सुपुत्र तो यहीं आ गये अज्जी! आओ चलो, पण्डिताचार्यजी से अभिषेक मन्त्र पढ़ने की प्रार्थना ये करेंगे और मैं स्वयं ऊपर ले जाकर तुमसे अभिषेक कराऊँगी।

'तुम्हारा संसार सुखी हो बेटी।

दाहिने हाथ को वरद मुद्रा में लाते हुए वृद्धा ने एक साथ दोनों को आशीर्वाद दिया।

घोर अपरिचय की पृष्ठभूमि में वृद्धा के मुख से जुगल जोड़ी के लिए यह आशीर्वचन सुनकर सरस्वती का चौंकना स्वाभाविक था। वृद्धा की अलौकिकता पर अब उसे कोई सन्देह नहीं रहा। किसी अज्ञात प्रेरणा से उसका माथा स्वतः नत हो गया। आंचल हाथों में लेकर उसने वृद्धा का चरणस्पर्श कर लिया।

इस वृद्धा से अभिषेक कराना है। जिनदेवन को इससे अधिक कुछ भी जानने समझने की न इच्छा थी न समय था। उन दोनों का अनुसरण करते वे वापस मंच की ओर चल पड़े।

थोड़ी ही देर में निराश होकर पण्डिताचार्य मंच के पास लौट आये थे। चिंता और अनिश्चय का वातावरण वहाँ पूर्ववत् व्याप्त था। इस व्यवधान को धर्म कार्य में उपसर्ग मानकर साधु समुदाय ध्यानस्थ हो गया था। अत्तिमब्बे मीठे शब्दों में अजितादेवी को सान्त्वना दे रही

थी। चामुण्डराय को आश्वासन देते हुए गंगनरेश कह रहे थे—'यह अभिषेक अवश्य पूर्ण होगा महामात्य! तुम्हारा कोई भी संकल्प कभी अधूरा नहीं रहा। साधन अपने पास प्रचुर हैं। उनका उपयोग करके उपक्रम करो और अपनी भक्ति का भरोसा रखो।'

इन लोगों के सीढ़ियों के समीप पहुँचते ही सरस्वती का मौन इंगित पाकर एक क्षण में ही अभिषेक के लिए प्रासुक दुग्ध से भरा स्वर्णपात्र, स्वयं जिनदेवन वहाँ ले आये परन्तु नम्रतापूर्वक वृद्धा ने उसे ग्रहण करने का उनका अनुरोध नकार दिया—

'तुम्हारे कलश से अभिषेक करने का मुझे क्या पुण्य होगा कुमार! घर में लाये हुए इसी स्वल्प दुग्ध से भगवान् के चरणों का अभिषेक करूँ यही मेरी अभिलाषा है।'

इस बार आगे बढ़कर स्वयं अजितादेवी ने वृद्धा से अनुरोध किया—'सो तो ठीक है दीदी! अपनी गुल्लिका से ही अभिषेक करो परन्तु अभिषेक तो ऊपर मंच से ही करना चाहिए न? चरणों के अभिषेक का भी प्रारम्भ तो मस्तक से ही होगा। आओ चलो ऊपर चलते हैं।'

अजितादेवी और सरस्वती, सादर और साग्रह बाँहों का सहारा देती गुल्लिका अज्जी को ऊपर मंच तक ले गयीं। सहसा किसी सुरभित समीर का एक झोंका पूरे वातावरण को मीठी गन्ध से भर गया। यहाँ मुझे भी क्षणैक के लिए उस अलौकिक सुगन्ध का अनुभव हुआ। सारे वातावरण में एक दिव्यता व्याप्त हो गयी।

अक्षीण कलश : अजस्रधारा

महामात्य और जिनदेवन ने उत्सुकतावश ऊपर जाने के लिए पग बढ़ाये परन्तु पण्डिताचार्य ने मौन इंगित से उन्हें बरज दिया। मन्त्रमुग्ध होकर उन्होंने नमस्कार किया और वृद्धा ने दोनों हाथों से वह छोटी-सी गुल्लिका भगवान के मस्तक पर उड़ेल दी।

समस्त समुदाय ने देखा—उस छोटी-सी गुल्लिका में से निकलती दुग्ध की धारा गोमटेश के मस्तक पर गिर रही है और गिरती ही जा रही है। निमिष भर में भगवान का मस्तक अभिषिक्त हो गया। अब दुग्ध ने भगवान् के वक्ष का अवगाह लिया। वह पहुँच गयी धारा उनके कटि प्रदेश तक। जंघाओं को पार करके यह आयी दुग्ध की धवलता उनके घुटनों तक।

और फिर?

फिर निमिष भर के लिए सबके पलक मुँद गये। समय के उस भाग

मे सबकी स्वास रुक गयी। सारे स्पन्दन रुद्ध हो गये पर गुल्लिका से निकली वह दुग्ध धार इस बार कहीं रुद्ध नहीं हुई। घुटनों को प्रक्षाल कर, दोनों चरणों को पखारती हुई वह अजस्र धार क्षण भर में ही भगवान् के चरण-तल की पद्मशिला को आप्लावित करने लगी।

अभिषेक की पूर्णता लखकर लोगों मे उल्लासपूर्ण हलचल मच गयी। हर्ष और भक्ति के आवेग मे उनकी आँखों से अश्रु टपक पड़े। बाहुबली की जय बोलते हुए वे उस पावन दुग्ध को अपने मस्तक पर चढ़ाने लगे। आखों मे आजने लगे। साश्चर्य देख रहे थे वे कि गुल्लिका से वह धारा अभी भी अक्षीण होकर ही प्रवाहित होती आ रही थी। दुग्ध के अजस्र प्रवाह मे अभी तक तनिक-सी भी क्षीणता परिलक्षित नहीं हो रही थी।

गोमटेश भगवान के जय जयकार से समूचे वन प्रान्त का गगन गूंज उठा। इसी जयघोष ने मानेश्वरी का ध्यान भंग किया। नेत्र खोलते ही काललदेवी ने देखा पवित्र अभिषेक का वह दुग्ध एक पतली धारा के रूप मे उनके सामने से ही बहता हुआ, विन्ध्यगिरि को प्रक्षालित करता जा रहा है। उस दुग्ध का अजरी म भर भर कर सौरभ उन पर छींट रहा है। उनका मन हर्ष से नाच उठा। वे भी गोमटेश की जय-जयकार कर उठी।

उस अतिशय से आकृष्ट होकर, अजितादेवी और सरस्वती न जाने कब गुल्लिका-अज्जो को अभिषेक करता हुआ ही छोड़कर, मच से उतर आयी थी। दुग्धोदक की वन्दना करके अब वे भी गोमटेश की भक्ति मे लीन थी।

पर्वत को प्रक्षालती हुई वह धारा उधर, उस सरोवर तक आते मैंने भी देखी। उस दिन इस दुग्ध अभिषेक न ही मेरे इस सहोदर को जिनायतन बना दिया। उस दिन से वह पूरा पर्वत ही पूज्य हो गया। इस घटना को दवी अतिशय अथवा इन्द्र की लीला मानकर लोगो ने विन्ध्यगिरि को 'इन्द्रगिरि' का नाम दे दिया। अभिषेक के पवित्र दुग्ध से उस दिन वह सरोवर भी परिपूर्ण हो उठा। अनेक प्रकार के दैहिक कष्ट निवारण करने की कल्याणी शक्ति, सदा के लिए उसके जल मे समाहित हो गयी। उसी दिन से 'कल्याणी सरोवर' उसका नाम हुआ।

शक्ति का विसर्जन

चामुण्डराय ने अनुभव किया कि उनकी अवचेतन मनोभूमि मे अनजाने ही अभिमान की एक बेडौल शिला कहीं उत्पन्न हो गई थी।

उसके कारण कुछ समय से उनके चिन्तन मे गति-अवरोध होने लगा था। वे जान भी न पाये कि कब, अभिषेक की इस दुग्ध धारा के साथ, पानी पानी होकर वह शिला, वही विलीन हो गयी। उसके अस्तित्व का कोई चिह्न अब उनके अन्तस मे शेष नही था। अब वे अपने भीतर मादव की मृदुलता का साक्षात अनुभव कर रहे थे।

वह छोटी-सी गुल्लिका कितने काल तक गोमटेश के मस्तक पर दुग्ध बरसाती रही, यह अनुमान वहाँ किसी को नही था। व्यवधान का निवारण देखकर पण्डिताचाय को सन्तोष हुआ। ये भी उस कालगणना के प्रति सावधान नही रह पाये थे, फिर भी साधारण व्यवधान यह नही था, इतना वे समझ गये थे। दीघकाल के सपात नाग समूहो को तप्त करनेवाला पुष्कल दुग्ध, छोटी-सी सामान्य गुल्लिका मे से ही वह गया है यह मानने के लिए उनका कमकाण्डी मन, तनिक भी तैयार नही था। महामात्य को मान के पवत पर से नीचे उतारने के लिए ही, अभिषेक म इस व्यवधान की रचना और उसके सुन्दर समाधान का प्रस्तुतीकरण हुआ है, यह सत्य उनके समक्ष स्पष्ट हो चुका था। उन्होंने तत्काल कूष्माण्डिनी महादेवी का स्मरण किया। पण्डिताचाय के आवाहन मे देवी का स्वरूप इस प्रकार था—

> धत्ते वामकरो प्रियकर सुत, वामे करे मजरीम,
> आम्रस्याम्यकरे शुभकरजतो, हस्त प्रशस्त हरौ।
> आस्ते सत् चरे महाम्रविटविच्छायां श्रिताम्बोद्भया,
> यासौ ता नुत नेमिनाथपदयो नम्राम्बिहाम्बा यजे।।

शासनदेवता के स्मरण के साथ ही उन्होने रक्त पुष्पो की अजली भरकर वेदी की पीठिका पर बिखेर दी। इसके एक क्षण उपरान्त ही विसजन पद्यो का उच्चारण पण्डिताचाय की गम्भीर वाणी मे वहाँ गूज उठा—

> ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्त न कृत मया।
> तत्सव पूर्णमेवास्तु त्वत्प्रसादाज्जिनेश्वर ॥
> आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम।
> ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम।।

अब जाकर जिनदेवन को उस गुल्लिकाधारिणी महामाया का स्मरण हुआ। सिर उठाकर उसकी ओर देखते ही वे अवाक रह गये। गुल्लिका-अज्जी मच पर नही थी।

अरे! अज्जी किधर गयी ?'

जिनदेवन के मुख से यह विस्मय भरी वाणी निकलते ही, एक साथ शतश नेत्र मच की ओर उठे, और उठे ही रह गये।

सबने इधर उधर, चारो ओर दूर-दूर तक दृष्टि दौडायी, परन्तु गुल्लिका-अज्जी वहाँ कही होती तो मिलती। वे तो सुरभित पवन की तरह, अपनी सुगन्ध छोडकर, वहाँ से अन्तर्धान हो गयी थी।

कौन थी वह वृद्धा ?

किसने उनका आह्वान किया था यहाँ ?

यहाँ से ढूँढकर लाये थे उन्हे ?

कैसे समाया होगा इतना दूध, छोटी-सी गुल्लिका मे ?

क्या साक्षात कूष्माण्डिनी महादेवी ही पधारी थी अभिषेक करने ?

देखते-देखते कहाँ अन्तर्धान हो गयी ?

प्रश्न वहाँ सबके पास थे। उत्तर किसी के पास नही था।

आचार्यश्री जब तक ध्यानस्थ-से किसी चिन्तन मे लीन थे। समुदाय की उस हलचल मे जब उनके नेत्र खुले तब, चामुण्डराय गुल्लिका-अज्जी को ढूँढने मच की ओर जा रहे थे। हाथ के इगित मे वर्जते हुए उन्होने कहा—

अभिषेक सम्पन्न हो गया गोमट ! उसे सम्पन्न करनेवाली शक्ति को अब देख नही पाओगे। अपने ही मन मे भक्ति की शक्ति का आकलन अब तुम्हे करना है।

सामग्री और निमित्त के सक्रिय सहयोग से ही सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। यही ससार की व्यवस्था है। परस्परोपग्रहो जीवानाम् के शाश्वत सूत्रपुज की उपेक्षा करके केवल अपने आप मे कर्तव्य का गुमान करना, मिथ्या अहकार है। लगता है तुम्हारे मन से मान का वही काटा निकालने के लिए किसी महाशक्ति को आज यह कौतुक रचना पड़ा है।'

'छोटे बडे का भेद भुलाकर सभी साधर्मियो पर वात्सल्य भाव रखो। धर्म की प्रभावना मे अपनी सामर्थ्य का उपयोग करो। व्यर्थ के विकल्पो से कोई लाभ नही। गुल्लिका-अज्जी मच पर ढूँढकर सन्तोष करना चाहते हो, तो एकबार जाकर मन का यह भ्रम भी मिटा लो।'

मच पर से महामात्य की दृष्टि चारो ओर घूमकर निराश हो लौट आयी। वहा न तो गुल्लिका-अज्जी का कोई चिह्न शेष था न गुल्लिका का। वहाँ तो—

थोड-स रक्ताभ पुष्प बिखरे पड़े थे, और—
उन ही पुष्पो की एक सीधी सुघड पक्ति
पीछे की सीढ़िया पर ऐसी सजी थी, जस—
उस पथ से अभी-अभी कोई दिव्यागना
(लाल लाल आलता विनिर्मित पद-पद्मा की—
छाप छोडती-सी) उतरती चली गयी हो।



४४ पूर्णाभिषेक

दूसरे ही दिन पूर्णाभिषेक हुआ। प्रतिष्ठा अनुष्ठान का यह सबसे महत्वपूर्ण आयोजन था। जल, चन्दन दुग्ध, दधि और घृत, पुष्प, फल और स्वर्ण मुद्राएँ इन आठ मंगल द्रव्यों से उस दिन भगवान का मंगल महाभिषेक किया गया।

उस दिन चारों ओर दूर-दूर तक, मनुष्य ही मनुष्य दिखाई देते थे। उतना विशाल जनसमुदाय एक साथ फिर कभी यहां एकत्र हुआ हो, ऐसी मुझे स्मृति नहीं है। विन्ध्यगिरि पर सम्मानित अतिथियों के बैठने की व्यवस्था की गयी थी। पूरा साधु समुदाय गोमटेश के सामने काष्ठ के मंच पर विराजमान हुआ। अनगिनते लोग, जिन्हें जहाँ स्थान मिला वहीं से, वह महोत्सव देख रहे थे।

सर्वप्रथम आचार्य नेमिचन्द्र महाराज ने मंच पर जाकर प्रतिष्ठा के शेष संस्कार सम्पन्न किये। मूर्ति को मन्त्रपूत करके उन्होंने भक्तिपूर्वक उसकी वन्दना की। पश्चात् सभी उपस्थित जनों ने जय-जयकार पूर्वक भगवान के चरणों पर पुष्प और अक्षत बरसाये। शिल्पियों द्वारा मंच पर से पुष्प वर्षा की ऐसी योजना की गयी थी, कि भगवान के ऊपर थोड़े थोड़े अन्तराल से पुष्प वर्षा होती थी, परन्तु बरसानेवाले हाथ किसी को दिखाई नहीं देते थे। लगता था जैसे गगन से देवों द्वारा ही भगवान् पर पुष्पों और अक्षतों की वर्षा हो रही है।

थोड़ी ही देर के उपरान्त गंगनरेश ने और महामात्य ने अपने परिवार के साथ अभिषेक प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम स्वच्छ जल के कलशों से भगवान का न्हवन हुआ। उपरान्त केसर, चन्दन और कर्पूर आदि सुगन्ध मिश्रित जल के कलश ढारे गये। बाहुबली विग्रह की विशाल देह पर दुग्ध और दधि के अभिषेक की धवल धाराएँ ऐसी लगती थीं जैसे चमेली

और चाँदनी की श्वेत पुष्प मालाओं से उनका अभिनन्दन किया गया हो। गो घृत के अभिषेक ने क्षणेक के लिए प्रतिमा को स्वर्णिम-सी पीत आभा से आलोकित किया।

पुष्पों, फलों और स्वर्ण मुद्राओं से जिनबिम्ब का अभिषेक उस दिन पहली बार ही मैंने देखा। वहाँ उपस्थित अनेक लोगों के लिए वह दृश्य सर्वथा नवीन और दुर्लभ था। अनेक प्रकार के रंग बिरंगे पुष्पों के साथ केसर चन्दन से रंगे हुए तन्दुल तथा स्वर्ण और रजत के कृत्रिम पुष्पों का यहाँ बाहुल्य था। बाहुबली पर बरसते हुए इन रंग बिरंगे पुष्पों का समूह उस विग्रह पर सतरंगे इन्द्र धनुष की संरचना उत्पन्न करता था। पुष्पाभिषेक के उन बिखरे हुए पुष्पों को लौटते समय लोग, चुन चुनकर, बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ गोमटेश के मंगल आशीष के रूप में अपने साथ ले गये। सुपारी बादाम, छुहारा, द्राक्षा और नारियल की गरी आदि एकत्र करके, फलों से उन्हें अभिषिक्त करने के पश्चात्, भारी मात्रा में एकत्र की गयी स्वर्ण मुद्राओं द्वारा गोमटेश भगवान् का अभिषेक किया गया।

पुष्कल स्वर्ण मुद्राओं का वह अक्षय सा कोष, प्रभु के मस्तक और विशाल स्कन्ध भाग को छूता हुआ, नीचे पर्वत के धरातल पर झनकार के साथ गिरता ऐसा लगता था मानो कुबेर ने अपना दिव्य कोष ही इन परम दिगम्बर वीतराग प्रभु के चरणों पर निछावर कर दिया हो। धरती पर उछलती-ठहरती वे स्वर्ण मुद्राएँ देखकर लगता था जैसे निर्वाण लक्ष्मी के स्वागत में हर्षित होकर लोक लक्ष्मी स्वयं वहाँ नृत्य कर रही हो। मुझे तीन दिन से अभी तक वहाँ भक्ति के तन और मन ही नाचते अनुभव हुए थे। आज पुष्पों, फलों और स्वर्ण मुद्राओं को भगवान् के चरणों में फुदकता कूदता-सा देखकर लगा जैसे अब चेतन के साथ जड़ भी उन बाहुबली की पावन देह का स्पर्श पाकर आनन्दातिरेक से नाच उठा है।

पूर्ण-कलश

अष्ट द्रव्यों द्वारा महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होने पर अन्त में पुनः स्वच्छ प्रासुक जल से पूर्णाभिषेक किया गया। सर्वप्रथम काललदेवी ने पूर्ण-कलश की धारा भगवान् के मस्तक पर प्रवाहित की, फिर चामुण्डराय दम्पती और उनके कुटुम्ब ने कलश चढ़ाये। इसके पश्चात् वहाँ उपस्थित जन-समुदाय में से सहस्रों नर नारियों ने मंच पर जाकर भगवान् का अभिषेक किया। चार घड़ी तक अभिषेक का यह क्रम चलता रहा।

पूर्णाभिषेक की इसी वेला में, स्वच्छ निरभ्र गगन पर सहसा एक छोटी-सी बदली न जाने कहाँ से उठी और देखते ही देखते गोमटेश पर छा गयी। चार ही क्षण में बड़ी-बड़ी शीतल बूंदों से भगवान को अभिषिक्त करके वह दिव्य घटा तत्काल विलीन भी हो गयी। अल्पकाल में ही आकाश फिर निरभ्र था। सूर्य की किरणें पुनः वहाँ नाच रही थीं। ग्राम में, मेले पर, इतना यहाँ मेरी पीठ पर, उस वर्षा की एक बूंद भी नहीं गिरी थी। विन्ध्यगिरि भी पूरा नहीं भीगा था, बस भगवान का अभिषेक करके, आस-पास की थोड़ी सी भूमि का प्रक्षाल करके ही, देवराज इन्द्र की वह लीला नटी अन्तर्धान हो गयी थी।

गोमटेश्वर का यह महोत्सव देखकर लोगों के नयन और मन जैसी शीतलता प्राप्त कर रहे थे, चार क्षण में इस वर्षामृत से उनके शरीर भी वैसे ही निस्ताप हो गये। सुखद सुरभित बयार के कई झोंके वहाँ शीतलता का विस्तार कर गये।

महाकवि रन्न ने विनोदपूर्वक जिनदेवन से कहा—

देखा अन्ना! कल गुल्लिका-अज्जी दुग्धाभिषेक सम्पन्न करा गयी थी। पूर्णाभिषेक के लिए आज मेघमाला का आकस्मिक अवतरण हो गया। हमारे बाहुबली त्रिलोकपूजित हैं, अब तो तुमने यह प्रत्यक्ष देख लिया न? यह तो आचार्यश्री की स्तुति में से 'देविदविदच्चिय पाय-पोम्म' का साक्षात् रूपानुवाद हो गया।

वह नन्हा पुजारी

इस महोत्सव में सौरभ के आनन्द और उत्साह की सीमा नहीं थी। अजितादेवी ने उसके लिए एक छोटा-सा स्वर्ण-कलश बनवाया था। बारम्बार उसे भराकर उस बालक ने बड़े प्रमुदित मन से अभिषेक किया। कौशेय वस्त्रों में रत्नमुकुट से अलंकृत वह नन्हा पुजारी अलग ही दिखाई देता था। उत्साह से भरी उसकी चपलता, और आनन्दानुभूति में चमकते उसके नेत्रों की प्रभा, आज भी मुझे बार-बार स्मरण आती है। मैं सोचता हूँ पथिक, यदि धार्मिक संस्कार प्राप्त हों, वैसा वातावरण मिले तो संस्कृति की धरोहर को वहन करने की क्षमता तुम्हारी नयी पीढ़ी में जन्मजात होती है। प्रौढ़ वर्ग जागरूक और अविचलित रह सके, तो बालकों में उस प्रतिभा का कभी अकाल नहीं होगा। महावीर की परम्परा का यह रथ काल की संधि तक इसी प्रकार संचालित होता रहेगा।

जिनेश्वरी दीक्षा

महोत्सव के प्रथम दिन ही अनेक साधकों ने आचार्यश्री से मुनि-दीक्षा की याचना की थी। उनके चरणों में सकल्प के श्रीफल चढ़ाये थे। आचार्य महाराज ने उन सबकी प्रार्थना पर विचार करने के लिए आज का समय निश्चित किया था। इस बीच अपने योग्य शिष्यों द्वारा उन्होंने सभी दीक्षार्थी मुमुक्षुजनों की योग्यता दृढ़ता, साधना, गोत्र, कुल, शील आदि का परिचय और परीक्षण करा लिया था। उनमें से जिन्हें पिच्छी-कमण्डलु धारण करने की गरिमा का पात्र पाया गया उन्हें आज दीक्षा दी जानी थी। जिनमें कोई अनर्हता पायी गयी, उन्हें अन्य व्रत ग्रहण करने का परामर्श दिया गया था।

एक एक कर दीक्षार्थी मच के समक्ष आते थे। गोमटेश की वन्दना करके विराजमान साधुओं को नमोस्तु करते थे और सबके समक्ष अपना पवित्र अभिप्राय व्यक्त करके आचार्यश्री से दीक्षा की प्रार्थना करते थे।

विराग का उमड़ता पारावार

पण्डिताचार्य कल से ही बहुत गम्भीर और अन्तर्मुखी दिखाई दे रहे थे। लगता था कि कल दुग्धाभिषेक के बीच में व्यवधान की प्रतीक घटना, उन्हें बहुत गहरे तक झकझोर गयी थी। प्रातःकाल से यद्यपि पूर्णाभिषेक के अनुष्ठान का पूरा विधि विधान उनके ही द्वारा सम्पन्न हो रहा था, पर आज उनकी सहज विनोद वृत्ति उनके व्यवहार की प्रगल्भता और वाचालता जैसे कहीं खो गयी थी। गोमटेश्वर भगवान् की दृष्टि से दृष्टि मिलाकर देर तक वे उन्हें निहारते रहे थे। अनेक बार किसी न किसी के टोकने पर ही उनकी वह एकाग्रता खण्डित हुई थी। उनके मन में हो रहा द्वन्द्व आज पण्डिताचार्य के क्रिया-कलापों में स्पष्ट दिखाई दे रहा था। एक दो बार उनके नेत्रों से होता हुआ अश्रुपात भी लोगों की दृष्टि में आ गया।

पूर्णाभिषेक का अंतिम कलश अपने हाथों से ढार कर उन्होंने शांतिपाठ किया और गोमटेश्वर के चरणों में साष्टांग लोट गये। आधी घड़ी तक उन चरणों को अपनी भुजाओं में आवेष्टित किये हुए पण्डिताचार्य ध्यान मग्न थे, या बेसुध हो गये थे, सो कोई जान नहीं पाया। फिर अत्यन्त शान्त भाव से वे उठे। सभी आचार्यों मुनियों की वन्दना की और आचार्यश्री के समक्ष करबद्ध खड़े होकर उन्होंने निवेदन किया—

यह ससार आकुलताओं का पारावार ही दिखा स्वामी! निरा-

कुलता और शांति का लेशमात्र भी इसमें कभी प्राप्त हुआ नहीं। वासना कभी मिटी नहीं, आशा अभिलाषा अनन्त होती गयी। कुम्भकार के चाक पर चढ़ी हुई माटी के समान मैं घूमता रहा। नाना रूप धारण करता रहा। चाह की दाह में बार बार झुलसता रहा। विषयों के वारिधि में बार-बार डूबता रहा। कर्म के निष्ठुर आघातों से बार-बार खण्डित होता रहा, पर इस भव भ्रमण का ओर छोर कभी मिला नहीं।'

'अब बहुत हुआ प्रभो! अब सहा नहीं जाता। आपकी कृपा से आज मार्ग दिखाई दे गया है। निराकुलता का जो पथ आपने ग्रहण किया है, इस अधम को भी उस पथ पर चलने के लिए सहारा दीजिए महाराज! पंच महाव्रत प्रदान करके आज मेरा भी उद्धार कर दीजिए।'

पण्डिताचार्य की यह संवेग भरी वाणी सुनते ही सभा में सन्नाटा-सा छा गया। विस्मय भरी दृष्टि से लोग उनकी ओर देखने लगे। महामात्य अपने स्थान से उठकर उनके समीप पहुँच गये। दोनों का दीर्घकाल का साथ था। पूरा परिवार कुटुम्ब के वरिष्ठ सदस्य की तरह, पण्डिताचार्य की आदर विनय करता था। आज अकस्मात उनके गृह-त्याग का संकल्प सुनकर सब अवाक् रह गये थे। अगले क्षण ही गले लगकर दोनों स्नेह पाश में बँधे खड़े थे। दोनों के नेत्रों से अश्रुपात हो रहा था। एक छोटी-सी स्मित रेखा, एक निमिष के लिए आचार्यश्री के आनन पर खेल गयी। हाथ के इंगित से ही उन्होंने भावुकता में बँधे दोनों भव्यों को ऐसे शान्त किया, जैसे ममतामयी माता अपने अज्ञ बालकों को सान्त्वना देती है। पण्डिताचार्य ने आचार्य महाराज के चरणों पर सिर रखकर वन्दन किया और उनके ही समक्ष मुमुक्षु-जनों के लिए रखी काष्ठ चौकियों में से एक पर बैठ गये।

आचार्यश्री के निर्देशानुसार दीक्षार्थी के नाम, जाति, कुल, गोत्र, स्थान, पद आदि की घोषणा करके, वहाँ उपस्थित मुनियों, आर्यिकाओं, श्रावकों और श्राविकाओं के चतुर्विध संघ से, दीक्षार्थी को मुनि-दीक्षा प्रदान करने के लिए, दिगम्बर साधु संघ में प्रवेश देने के लिए, सहमति प्राप्त की जाती थी। दीक्षार्थी के माता पिता, पत्नी और उपस्थित बन्धु बान्धवों से भी सहमति प्राप्त की जाती थी।

इस प्रकार संघ की सहमति मिलने पर ही दीक्षार्थी को दिगम्बरी दीक्षा का अधिकारी माना जाता था। सर्वप्रथम केसर से उसके भाल पर स्वस्तिक और ओम का अंकन करके, आचार्यश्री उसका पंचमुष्टि केशलोंच करते थे। दीक्षार्थी के समस्त वस्त्राभूषणों का त्याग कराकर उसे यथाजात नग्न दिगम्बर रूप में सामने एक पृथक् आसन पर बिठाया

जाता। दीक्षा मन्त्र के उच्चारण पूर्वक उसे जीवन भर के लिए पंच महाव्रतों और अट्ठाईस मूलगुणों की प्रतिज्ञा दिलाते। उसके उपरान्त जीवदया के लिए मयूर पखावाली पिच्छी उसे ग्रहण करायी जाती। शारीरिक शुचिता के लिए काष्ठ का कमण्डलु प्रदान किया जाता। अन्य साधु उसका केशलोंच पूरा कर देते तब दीक्षार्थी के नवीन नामकरण के साथ उसे दिगम्बर मुनि घोषित कर दिया जाता था।

पण्डिताचार्य को दीक्षा देकर 'अरिष्टनेमि' उनका शुभ नाम घोषित किया गया। आचार्य द्वारा यह नामोच्चार होते ही 'अरिष्टनेमि महाराज की जय' का घोष बड़ी देर तक वहाँ गूँजता रहा। सभी नव दीक्षित साधुओं ने भक्तिपूर्वक गोमटेश भगवान् की वन्दना करके उपस्थित सभी आचार्यों और मुनिजनों को नमस्कार किया।

साधु की स्वाधीन वृत्ति

मुनिदीक्षा के अवसर पर वैराग्य से भरे वे क्षण महान् थे पथिक! साधर्मी का सम्मान और समाज-वात्सल्य पण्डिताचार्य का विशेष गुण था। वहाँ सहस्रों एसे नर-नारी थे जिनका उनसे वर्षों का स्नेह सम्बन्ध था। आज विराग तो केवल पण्डिताचार्य के मन में आया था अतः वे सब लोग उन्हें गृहत्याग करता देखकर, राग के वशीभूत दुखी हो रहे थे। राग और विराग दोनों वहाँ साकार थे।

दीक्षा की प्रक्रिया में पण्डिताचार्य ने अपने सिर, मूँछ और दाढ़ी के बाल, घास की तरह उखाड़कर फेंक दिये थे। उनके सिर पर सघन और सुचिक्कण दीर्घ केशावलि थी। अंगुलियों में लपेटकर, अत्यन्त निर्ममत्व भाव से धरती में से पके हुए धान्य की तरह उन्हें उखड़ता हुआ देखकर, अपने शरीर के प्रति साधक का निर्मोह भाव वहाँ साक्षात् दिखाई दे रहा था।

संसार जानता है पथिक! कि जिह्वा और स्पर्श इन्द्रिय की वासना मानव मन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। स्वाद की लोलुपता में बड़े बड़े साधक डिग जाते हैं। स्पर्श इन्द्रिय के भोग की लालसा का जाल तो जगत् विख्यात है। उससे उत्पन्न शरीर के विकार प्रकट दिखाई देते हैं। किन्तु दिगम्बर साधु का यह नग्न वेष, ऐसा प्रत्यक्ष प्रकट वेष है, जहाँ शरीर की ऐसी किसी विकृति को छिपा लेने का कोई अवसर ही नहीं है। सच्चा इन्द्रिय संयम दिगम्बर साधु जीवन का अनिवार्य अंग है। वासना का अभाव करके उसे शिशु की तरह निष्पाप और निर्दोष होना आवश्यक है।

अब पण्डिताचार्य को दिन में केवल एक बार, आदर भक्तिपूर्वक दी गयी भिक्षा ग्रहण करना थी। वह भी वही, अपने हाथों में ग्रहण करके, मौनपूर्वक, सूक्ष्म दृष्टि से उसका शोधन करके, दाता के घर पर खड़े खड़े ही वह भोजन करना था। वन की गुफाओं-कन्दराओं में या निर्जन एकान्त देवालय आदि में निवास करना था। महल और श्मशान दोनों अब उनके लिए समान थे। शत्रु मित्र की भावना से वे ऊपर उठ चुके थे। काच और कंचन में, निन्दा और स्तुति में उनका समभाव था। जीवन भर अपने नग्न शरीर पर ही शीत ग्रीष्म और पावस के उत्पात समता भाव से उन्हें सहना थे। आकस्मिक या नियोजित, मानवकृत या प्राकृतिक कोई भी उपद्रव उपसर्ग या परीषह अब उन्हें उनकी आत्म-साधना से डिगा नहीं सकते थे। उनके सकल्प अकम्प और अडोल थे।

आठ प्रहर में एक बार भोजनपान, यथाजात निवस्त्र रहने का सकल्प और वर्ष में चार-छह बार निर्ममत्व भाव से केशों का लोच, जैन तपस्वी की अनवरत अग्निपरीक्षा वाली क्रियाएँ हैं। देह और आत्मा की पृथक्ता का जो पाठ वह पढ़ता है, उस पर उसकी आस्था को परखने के ये सतत प्रयोग हैं। इन्हीं क्रियाओं से साधु की स्वाधीन वृत्ति की और उसके गौरव की रक्षा होती है।

पण्डिताचार्य ने अब जीवन भर के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का सर्वथा त्याग कर दिया था। अहिंसा सत्य, अचौर्य, शील और आकिंचन्य को जीवनव्रत की तरह अब उन्होंने अपना आराध्य स्वीकार कर लिया था। काया की हिंसा और मन के विकार भी अब उनके लिए अपराध हो गये थे। निरन्तर उनसे बचने का उन्हें पुरुषार्थ करना था। 'स्यात्' विशेषण से विभूषित, हित, मित, और प्रिय वाणी ही अब उनका एकमात्र वचन व्यापार थी। ससार की स्वतः स्वाधीन व्यवस्था और अनेक दृष्टियों से अनेक रूप दिखाई देने वाला पदार्थ का अनेकान्त सम्मत स्वरूप ही अब उनके चिंतन का आधार था। इस प्रकार—

आचरण में अहिंसा
वाणी में स्याद्वाद
चिन्तन में अनेकान्त।
यही था—
दिगम्बर साधु का जीवन सिद्धान्त।

श्रद्धा और सम्मान

अनेक उपस्थित जनों ने इस अवसर पर अनेक प्रकार के दान वहाँ घोषित किये। अभिषेक और पूजा के लिए पुष्कल मात्रा में, भाँति भाँति का द्रव्य लोग अपने घरों से लाये थे। भविष्य में भगवान् के अभिषेक के लिए सदा दुग्ध की व्यवस्था होती रहे इस विचार से शतश ग्रहस्थो ने भूमि क्षेत्र और ग्राम तथा स्वर्ण आदिक का दान भण्डार को दिया। महामात्य ने स्वत छियानवे हजार मुद्राओ की वार्षिक आय वाले ग्रामो का समूह भण्डार को प्रदान किया। अनेक जनो ने स्वर्ण और रत्नो की अनेक प्रतिमाएँ श्रद्धापूर्वक भेंट की। अत्तिमब्बे ने षट्खण्डागम सहित एक-सौ एक ग्रन्थो की प्रतियाँ श्रवणबेलगोल के जिनालय में विराजमान करायी।

शतश जनो ने काम की सम्पन्नता पर महामात्य को बधाइयाँ दी। हर्षपूर्वक लोग उनके गले मिलकर अपना आनन्द प्रदर्शित करते रहे। सामान्य जनो ने करबद्ध अभिवादन करके उनका सम्मान किया। अनेक जनो ने पदानुसार वस्त्रालंकरण भेंट करके भी उनका अभिनन्दन किया।

गंगनरेश की ओर से रूपकार को स्वर्णदण्ड छत्र और चमर का सम्मान प्रदान किया गया। महामात्य को उन्होंने बहुमूल्य सामग्री के साथ सम्मानपूर्वक 'राय' की उपाधि से अलंकृत किया। नीलमणि से निर्मित चन्द्रनाथ स्वामी की सुन्दर प्रतिमा उन उपहारो की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भेंट थी। मूडबिद्री की गुरुबसदि में सिद्धान्त दर्शन के समय अनेक रत्न प्रतिमाओं के मध्य आज भी तुम्हे उस मणि बिम्ब का दर्शन प्राप्त होता है।



४५ समापन समारोह

इसी भूमि पर जहाँ तुम अभी बैठे हो, उस दिन मध्याह्न में इस प्रतिष्ठापना महोत्सव का समापन समारोह आयोजित हुआ। गंगनरेश धर्मावतार राचमल्ल और गुणरत्नभूषण चामुण्डराय बड़ी धूम धाम से गुरु-वन्दना के लिए इस चन्द्रगिरि पर आये। सहस्रों नर-नारियों का समूह एक बड़े चल समारोह के रूप में, पूरे मेले का भ्रमण कराता हुआ उन्हें नीचे उस स्वागत द्वार तक लाया। मार्ग में पग-पग पर पुष्प-गुच्छकों से, मालाओं से और रोली तिलक आदि से उनका स्वागत किया गया। सुहागिन स्त्रियाँ मंगल-कलश और दीप आरती लेकर स्थान-स्थान पर उनकी अगवानी के लिए खड़ी थीं।

चल समारोह की भव्यता बहुत निकट से मैं देखता रहा। राजसी ऐश्वर्य से युक्त गंग राज्य के मदमाते गजराजों का समूह, पंक्तिबद्ध चल रहा था। स्वर्णमण्डित उनके अग्रदन्त बाल रवि की स्वर्णिम किरणों की तरह दूर से दिखाई देते थे। उनकी पीठ पर लटकती मखमली झूलों पर मणि मुक्ताओं का बाहुल्य था। मंगल वाद्यों का समूह सबसे आगे था। आगे के गजों पर ध्वज, कलश, भेरी आदि मंगल द्रव्य शोभित थे। बीच में एक विशालकाय, सुन्दर गज की पीठ पर स्वर्ण विमान में मरकत मणि की, भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा विराजमान थी।

उज्जयिनी से आये एक कलाकार ने गोमटेश भगवान् का एक विशाल पट चित्र अपनी अभ्यस्त तूलिका से चित्रित कर दिया था। काष्ठाधार पर मढ़कर उस विशाल पट चित्र को एक शकट पर स्थापित किया गया। शकट को धवल धुरन्धर श्वेत वृषभों की जोड़ी खींच रही थी। दीक्षा के उपरान्त तो एक पग भी बाहुबली का विहार नहीं हुआ था। चल समारोह में उस जीवन्त चित्र को देखकर लगता था कि भक्तों की

भावुकता ने आज उनका विहार भी करा दिया है।

चित्र-वाहिनी शकट का अनुगमन तीन गज कर रहे थे। एक गज पीठ पर षट्खण्डागम धवल-जयधवल, दूसरे पर गोम्मटसार और तीसरे पर 'चामुण्डराय पुराण' की प्रतियाँ सम्मानपूर्वक सजाकर रखी गयी थीं।

गग नरेश, महामात्य जिनदेवन और रूपकार आगे पीछे अलग अलग गजों पर आरूढ़ थे। इन गजों के आगे पीछे भी भाँति भाँति के वादित्र, शोभा प्रतीक और मगल कलश चल रहे थे। पीछे-पीछे हर्षमग्न नर-नारियों का भारी समूह था।

स्वागत द्वार के पास, तुम्हारे इस विन्ध्यगिरि की तलहटी में दानशाला के सजे धजे हाथियों ने, शुण्ड में पुष्पमालाएँ लेकर गगनरेश और महामात्य का स्वागत किया। एक चपल हथिनी ने अपने महावत के इंगित पर रूपकार को शुण्ड में उठाकर अपनी पीठ पर बठा लिया। उसके साथ में छोटे से गज शावक पर सौरभ को बिठाया गया और तब हथिनी और उस गज शिशु ने, मृदगम की थाप पर आधी घडी तक सुन्दर नृत्य किया। गजराजों के द्वारा इस स्वागत के उपरान्त जिनबिम्ब और जिनवाणी को पालकी में रखकर ऊपर लाया गया।

ऋषिगिरि मेरा नाम उस दिन एक बार फिर सार्थक हो उठा। बडी सख्या में दिगम्बर ऋषि उस दिन मुझे पावनता प्रदान कर रहे थे। समारोह में समागत सभी आचार्य और मुनि एकसाथ इस प्रागण में विराजमान थे। सद्य मुण्डित नवदीक्षित मुनियों की पंक्ति एक ओर अलग ही दिखाई दे रही थी। साधु समुदाय ने उठकर भगवान नेमिनाथ की वन्दना की फिर जिनवाणी को नमस्कार करके वे सब अपने अपने आसन पर आसीन हुए। मातेश्वरी और महिलामणि अत्तिमब्बे, पहले से ही आर्यिका माताओं की सेवा सुश्रूषा में यहाँ सलग्न थीं।

सभी समागतों ने उस दिन यहाँ देव शास्त्र और गुरु की एकसाथ वन्दना करने का सौभाग्य प्राप्त किया। मुनिराजों ने सबको धर्मवृद्धि का आशीष प्रदान किया। थोडी ही देर में यहाँ उन सबके यथास्थान बैठ जाने पर समुदाय ने एक व्यवस्थित सभा का रूप ग्रहण कर लिया।

अजितसेन आचार्य का आशीवचन

सभा वहाँ जुड तो गयी, परन्तु उसका सचालन करने के लिए सभा के चतुर वक्ता पण्डिताचार्य अब उपलब्ध नहीं थे। दिगम्बर मुनिराज के रूप में आज वे मुनि मण्डली में विराज रहे थे। आज महाकवि रन्न ने

मंगलाचरण करके सभा का प्रारम्भ किया—

'दीर्घकाल से आप जिसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, वह पवित्र दिवस आज उपस्थित है। मातेश्वरी की आकांक्षा के अनुरूप बाहुबली भगवान की प्रतिमा का निर्माण हो गया। उनकी प्रतिष्ठापना और महामस्तकाभिषेक भी सानन्द सम्पन्न हो गया। पूज्य आचार्य महाराज अजितसेन और नेमिचन्द्र आचार्य के मंगल आशीर्वाद से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। पूरे कर्नाटक का सौभाग्य और पुण्य ही गोमटेश के रूप में यहाँ स्थिर हो गया है। महामात्य का यह अनुपम कीर्ति ध्वज दीर्घकाल तक स्थायी रहेगा इसमें कोई संदेह नहीं है।'

यह हमारा अनिर्वच सौभाग्य है कि आज दोनों आचार्य भगवन्तों का चरण सान्निध्य यहाँ हमें प्राप्त है। उनके मुख से मंगल आशीर्वाद के वचन सुनने की हमारी आकांक्षा भी वे श्रीगुरु पूरी करेंगे। मैं आप सबके लिए आचार्य महाराज से आशिष की अनुनय करता हूँ।'

आचार्य अजितसेन ने बाहुबली स्वामी की जय के साथ इन शब्दों में अपना आशीर्वाद प्रदान किया—

'गोमटेश्वर बाहुबली के दर्शन पाकर हमें अतीव आनन्द हुआ है। सहस्रों वर्षों में कभी एकाधबार अनुकूल साधन और निमित्त मिलने पर ऐसी महान् रचनाएँ सम्पन्न होती हैं। काललदेवी की उत्कृष्ट भक्ति भावना, नेमिचन्द्र की अनोखी कल्पना, चामुण्डराय की महती उदारता, शिल्पकार की अद्भुत साधना और आप सबके अतिशय पुण्य का प्रभाव यही वे पंच समवाय हैं जिनका योग हो जाने से, पर्वत की यह शिला बाहुबली के रूप में परिणत हो सकी है। इन गोमटेश की भव्यता और सौम्य मुद्रा हमारे मन को बहुत गहराई तक प्रभावित करती है। जो भव्य जीव एकबार भी पवित्र मन से इनका दर्शन करेंगे थोड़े ही काल में वे अवश्य कल्याण की प्राप्ति करेंगे।'

'आपके आचार्य नेमिचन्द्र ने इस प्रतिमा के निर्माण की प्रेरणा देकर बड़ा काम किया है। ज्ञान ध्यान और तप में निरन्तर संलग्न रहकर ये महाराज उत्कृष्ट साधना कर रहे हैं देव शास्त्र-गुरु की प्रभावना के लिए श्रावकों को प्रेरणा देते रहना हितोपदेशी गुरु की आप-परम्परा है। इनका तल-स्पर्शी आगम ज्ञान देखकर तो हमें अतीव संतोष हुआ है। चक्रवर्ती नरेश जिस प्रकार पृथ्वी के छह खण्डों पर अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं, उसी प्रकार षट्खण्ड आगम पर नेमिचन्द्र ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया है। वे तो सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं।'

'महामात्य चामुण्डराय ने इस कार्य की जितनी भी सराहना

की जाय वह कम ही होगी। हमारा तो यही कहना है कि जैन धर्म की प्रभावना, जैन साहित्य का प्रसार, और जैन संस्कृति का संरक्षण, यही आज के युग का सबसे बड़ा धर्म है। यही गृहस्थो का रत्नत्रय है। गंग नरेश और महामात्य इन धर्म कार्यों मे संलग्न हैं, यह जैन संस्कृति का सौभाग्य है। धर्म की सेवा करने योग्य भक्ति, शक्ति और सामर्थ्य उन्हें सदा प्राप्त होती रहे ऐसी हमारी भावना है।'

'महामात्य की यह अनुपमेय रचना चिरस्थायी होकर उनकी कीर्ति को अमर करे, वे स्वयं भी साधना के मार्ग का अनुसरण करके अमरता प्राप्त करें। आप सबकी धर्म वृद्धि हो, यही हमारा आशीर्वाद है।'

'गुरुवर आचार्य अजितसेन महाराज की जय।'

'सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य की जय।'

जन समूह के उत्साह भरे घोष से गोमटपुर का गगन गूंज उठा।



४६ सिद्धान्तचक्रवर्ती का दीक्षान्त प्रवचन

सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य का प्रवचन अब प्रारम्भ होनेवाला था। अत्यन्त मनोग्राही शैली मे वे आचार्य बोलते थे। उनकी वाणी भी सारगर्भित होती थी। आज तो दूर-दूर के आगन्तुक उनका उपदेश सुनने के लिए उत्सुक और लालायित यहाँ बठे थे। जन समुदाय तुम्हारे इस चन्द्रगिरि पर अँट नही रहा था। आज की उपस्थिति ने मुझे अपनी सकीणता का बोध करा दिया था।

ध्वनि विस्तारक यन्त्र तब नही थे, परन्तु वक्ताओ की वाणी ऐसी सशक्त, इतनी ओजपूर्ण होती थी कि दूर-दूर तक स्पष्ट सुनाई देती थी। आज के दूषित पर्यावरण से मुक्त, उस काल का वातावरण भी निमल पवित्र और अधिक सवेदनशील मुझे लगता था। नेमिचन्द्राचाय की वक्तृता तो अनोखी ही थी। वसी अथवती वाणी, शब्दो का वसा ललित सयोजन और वसा गुरु गम्भीर-गजन उनके पश्चात किसी और के कण्ठ से फिर मैंने कभी नही सुना।

स्वरचित गोमटेश स्तुति के प्रथम पद से मगलाचरण करते हुए आचायश्री का प्रवचन प्रारम्भ हुआ—

विसट्ट-कदोट्ट दलाणुयार,
सुलोयण चद समाण-तुण्ड।
घोणाजिय चम्पय पुप्फसोह,
त गोमटेस पणमामि णिच्च॥

'आज आप सबके लिए आनन्द का अवसर है। हमे गुरुवर पूज्य अजितसेन महाराज का चरण-सान्निध्य प्राप्त हुआ। इतने मुनिराजो त्यागियो का सत्सग लाभ, आपके लिए भी इस उत्सव की महती उपलब्धि है।'

—'आपने अनेक विस्मय यहाँ आकर देखे। शिल्पी के उपकरणों ने अनगढ़ शिला को देव प्रतिमा की भव्यता प्रदान कर दी। पण्डिताचार्य के विधि विधान ने प्रतिष्ठा के साथ पाषाण को 'भगवान्' बना दिया। महामात्य के सहस्र कलशों से जो अभिषेक सम्पन्न नहीं हो पाया, एक साधनहीन पुजारिन की भक्ति भरी गुल्लिका ने, क्षण भर में वह सम्पन्न कर दिया। ऐसे ही कुतूहलों के समूह का नाम संसार है। इन समस्त घटनाओं से संसार की यथार्थता का ज्ञान करना, उनमें अपने उत्कर्ष के सन्दर्भों की शोध करना ही जीव का सम्यक् पुरुषार्थ है।'

शिल्पी के उपकरणों का चमत्कार आप सबने देख लिया। अब विचारना चाहिए कि वे कौन-से उपकरण हैं, जिनके प्रयोग से आप अपने अनगढ़ व्यक्तित्व को गढ़कर, उसे उसका सम्यक् स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। अनुष्ठान के मन्त्रों ने जड़ पाषाण को भगवान् बना दिया, फिर आप तो चेतन आत्मा हैं। आपको उन मन्त्रों की शोध करना चाहिए जिनमें आत्मा को परमात्मा बनाने की सहज सामर्थ्य है।

'अनादि से इन्हीं जिनाराधनाओं ने जीव का कल्याण किया है। भगवान महावीर ने इन प्रश्नों के अनुभूत समाधान हमें प्रदान किये हैं। उनका उपदेश आगम शास्त्रों में संकलित है। भगवान् कहते हैं कि स्व-पर विवेक की पैनी-छैनी के प्रयोग से विकारी आत्मा को निर्विकार किया जा सकता है। उसके साथ अनादि से लगी हुई कषायों की कुरूपता हटायी जा सकती है। वीतराग चिंतन ही एकमात्र ऐसा मन्त्र है जिसके प्रयोग से आप अपनी आत्मा में भी ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। इतना आत्मविश्लेषण यदि कर सकें तो आपका इस महोत्सव में आना, सफल है। बाहुबली के दर्शन की यही सार्थकता है।

पण्डिताचार्य ने इन गोमटेश के आवाहन में जैसी लगन दिखाई थी, वैसी ही निष्ठा के साथ उन्होंने भगवान् के बतलाये पथ पर चलने का पुरुषार्थ भी कर दिखाया है। अरिष्टनेमि' महाराज का यह उत्साह आप लोगों के लिए भी अनुकरणीय है। मोही जीवों को संसार में कहीं शान्ति प्राप्त नहीं होती। परिग्रह सदा आकुलता ही उत्पन्न करता है। उससे ममत्व छोड़ने पर शान्ति और आनन्द का अनुभव आपको भी हो सकता है।

गंगनरेश महाराज राचमल्ल को इस महोत्सव का बड़ा श्रेय है। यह राजवंश जैनधर्म का श्रेष्ठ भक्त रहा है। उनके राज्य में ऐसी अनुपम प्रतिमा की स्थापना हुई यह उनके लिए गौरव की बात है। हमें विश्वास है कि वे तथा उनके उत्तराधिकारी सदैव जैन संस्कृति की रक्षा

करते रहेंगे। हम उनके कल्याण की कामना करते है।'

'आपके महामात्य से हम बहुत कुछ कहना है। वे हमारे बाल सखा भी हैं। हमारे लिए वे गोमट हैं, और गोमट ही रहेंगे। यह चामुण्डराय के पुरुषार्थ की विशेषता है कि उन्होंने सांसारिक क्षेत्र में उन्नति करने के साथ साथ धार्मिक क्षेत्र में भी वैसा ही उत्कर्ष किया है। उनके पूरे परिवार की धर्म के प्रति अच्छी रुचि है। यह बहुत शुभ लक्षण है कि उनके पुत्र तथा पुत्रवधू में भी उनकी वंशपरम्परा के अनुरूप भगवान जिनेन्द्र की श्रद्धा, भक्ति तथा उदारता विद्यमान है। गोमट का का शास्त्राभ्यास देखकर हमें सन्तोष होता है। बाहुबली भगवान के इस निर्माण कार्य में धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा, उनकी भक्ति और उनकी उदारता तीनों स्पष्ट हैं। आपके महामात्य 'वीर मार्तण्ड' तो हैं ही, वे यथार्थ में 'सम्यक्त्व रत्नाकर' भी हैं।

'आज गोमट से हमें यही कहना है कि अब उन्हें अपना शेष जीवन आत्म-कल्याण में लगाना चाहिए। उनके जीवन का एक बड़ा भाग युद्ध क्षेत्र में व्यतीत हुआ है। अब युद्धों से उन्हें विराम लेना ही है। गोमट के लिए यही हमारा आदेश, अनुरोध और परामर्श, सब कुछ है। बस भी यहां रहकर जिस चित्त ने दीर्घकाल तक बाहुबली के क्षमा निधान रूप का चिन्तवन किया हो, उस चित्त में सांसारिक जय-पराजय का चिन्तन अब शोभा नहीं देगा। जिन हाथों ने गोमटेश भगवान के अभिषेक के कलश उठाये हों, उन हाथों में किसी के तन मन को सन्तापित करनेवाले उपकरण उठाने का अब कोई औचित्य नहीं होगा। शास्त्र के पन्नों से ही अब उन हाथों की शोभा है।'

'गोमट के अनुरोध पर, उन्हीं के सम्बोधन के लिए हमने 'पंच संग्रह' का लेखन प्रारम्भ किया था। अब वह रचना पूर्ण हो रही है। हम इस ग्रन्थ को 'गोम्मटसार' ही कहना चाहते हैं। बाहुबली भगवान् की प्रतिमा के निर्माण का यह महान् कार्य गोमट की जिनभक्ति, मातभक्ति और प्रभावना-बुद्धि का प्रतीक है। इसलिए इन बाहुबली भगवान् को भी 'गोमटेश' सम्बोधन करके हमने इनकी वन्दना की है। वे यथार्थ में गोमट के नाथ बनकर ही यहाँ अवतरित हुए हैं।'

'आपको ज्ञात है कि गोमट के द्वारा अनेक स्थानों पर जिनालयों का निर्माण हुआ है। इस चन्द्रगिरि पर भी एक जिनालय के निर्माण की भावना उन्होंने व्यक्त की है। उस मन्दिर की शीघ्र प्रतिष्ठा हो इस

गोमटपुर की दानशाला के द्वार युगान्त तक कभी रुद्ध न हो, और गोमटेश भगवान् की यह पावन प्रतिमा, सहस्रों वर्षों तक गोमट की भक्ति और कीर्ति का प्रसार करती हुई, भव्य जीवों का कल्याण करती रहे, ऐसी हमारी भावना है। यही हमारा आशीर्वाद है।'



४७ महामात्य का आत्म-निवेदन

आचार्यश्री का प्रवचन समाप्त होने पर महाकवि ने महामात्य से अपना वक्तव्य प्रस्तुत करने का अनुरोध किया। चामुण्डराय ने अपने स्थान से उठकर पहले आचार्य अजितसेन की फिर नेमिचन्द्राचार्य की चरण वन्दना करके, गंगराज का अभिवादन किया और तब अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया—

'आचार्यश्री की हमारे ऊपर महती अनुकम्पा है। हमारे जीवन में आचरण में जो कुछ सम्यक् और भद्र है, वह उन्हीं का दिया हुआ है। अपने स्नेह भाव के कारण भगवान् बाहुबली के साथ महाराज ने हमारा नाम जोड़ दिया है। अपने अनमोल ग्रन्थ का नाम भी 'गोम्मटसार' घोषित कर दिया है। अब हम सावधान रहना ही होगा। इस नाम के साथ कोई क्षुद्रता न जुड़ पावे यह हमारा उत्तरदायित्व होगा। महाराज की यह भावना हमारे लिए कल्याण विधायिनी होगी।'

'आज तक हम अपनी जन्मभूमि का ऋण चुकाते रहे अब हम जननी का ऋण चुकाने का अवसर मिला है। मातेश्वरी की भक्ति से ही भगवान् यहाँ प्रकट हुए हैं। जीवन का शेष काल उन्हीं की आज्ञानुसार, उनके साथ यहाँ रहकर बाहुबली के चरणों की सेवा में व्यतीत करने का हम प्रयत्न करेंगे। आज से 'शस्त्र-संन्यास' का हम संकल्प करते हैं, और आचार्यश्री से प्रार्थना करते हैं कि इस निबल को सहारा देकर, संसार के कषायचक्र से इसका उद्धार करके, अनन्त सुख के मार्ग पर लगाने की कृपा करते रहें।

हमने यह अनुभव किया है कि इस संसार में हम सभी, कषायों के गज पर आरूढ़ होकर घूमते हैं। जो पुण्य-पुरुष इस गज से उतरकर समता की भूमि पर आ जाते हैं, उनका जीवन सार्थक हो जाता है।

'भरतेश सम्राट छह खण्ड की विजय-यात्रा के पश्चात्, मान के गज पर आरूढ़ अपनी प्रशस्ति अंकित करने के लिए वृषभाचल पर्वत पर गये थे। वे सोचते थे उनकी विजय अभूतपूर्व है परन्तु पर्वत की विशाल शिलाओं में ऐसे असंख्य चक्री राजाओं की उकेरी प्रशस्तियाँ देखकर ही उन्हें अपनी स्थिति का बोध हो गया।'

वे चक्रवर्ती भरत एक बार पुनः कषाय के गज पर आरोहण कर गये। उनका अपने ही भ्राता पर —ही बाहुबली पर, कोपावेश में चलाया हुआ चक्र, जब निष्क्रिय होकर लौट आया, चक्रवर्ती की गरिमा पराजय के लांछन से जब उनके हाथों खण्डित हुई, तभी वे यथार्थ की धरा पर उतर पाये।

अपने भगवान बाहुबली भी दीक्षा के उपरान्त कुछ समय तक उसी गज-यात्रा के प्रमाद में प्रमत्त रहे। भरतेश चक्रवर्ती ने मुकुट उतार कर उनकी वन्दना की, विदुषी बहिना ने, ब्राह्मी और सुन्दरी ने, सम्बोधन दिया, तभी वे परम अप्रमत्त होकर सर्वज्ञता प्राप्त कर सके।'

'एक दिन यह शिल्पकार भी लोभ की गजपीठ पर चढ़कर विक्षिप्त हो गया। जननी की प्रताड़ना, और आचार्यश्री का संबोधन उसे मिले तभी प्रकृतिस्थ होकर वह अपनी साधना पूर्ण कर सका।'

'और किसी की क्या कहें ! हम स्वयं भी कल कुछ समय के लिए मान के इस मतवाले हाथी पर कुछ दूर तक घूम आये। आपने प्रत्यक्ष ही देखा, हमें धरती पर उतार लाने के लिए गुल्लिका-अज्जी को कष्ट करना पड़ा।

अपने भीतर झाँक कर देखें तो पायेंगे कि हम सब कहीं न कहीं, किसी न किसी कषाय के गज पर आरूढ़ हैं। इसलिए यथार्थ की धरा और समता की धारा से हमारा सम्बन्ध जुड़ नहीं पाता। परन्तु यह हमारा सौभाग्य है कि हमें समीचीन धर्म की शरण प्राप्त हुई है। श्रवणबेलगोल जैसे पावन तीर्थों की वन्दना का अवसर मिलता रहे, आचार्य महाराज जैसे करुणायतन मुनिराजों के चरणों का सत्संग मिलता रहे, और इन बाहुबली भगवान् जैसी वीतराग सौम्य मुद्रा का दर्शन यदि प्राप्त होता रहे तो हम सबके जीवन में कभी न कभी, वह क्षण अवश्य आएगा जब हम कषायों के शिखर से उतरकर मार्दव की सुकोमल भूमि पर विचरण कर सकेंगे। चाह की दाह से बचकर समता की शीतल धारा में अवगाहन कर सकेंगे।'

यह श्रवणबेलगोल तो शाश्वत और पवित्र तीर्थ है।'

'बाहुबली की यह भव्य प्रतिमा कला जगत की अनोखी निधि है।

इसका निर्माण किसी एक व्यक्ति से कभी सम्भव ही नहीं था। मातेश्वरी की इच्छा पूरी करने का हमने सकल्प किया। सयोग से शिल्पी के रूप मे यह योग्यतम व्यक्ति उपलब्ध हो गया। आचार्यश्री की कल्पना, शिल्पी के कौशल और आप जैसे भक्तो के भाग्य से यह छवि यहाँ प्रकट हो गयी। इसमे हमारा कुछ नही है। हमने और आपने मिलकर जैसे आज यह महोत्सव यहा देखा है, उसी प्रकार हमारे और आपके वशज ऐसे अनेक महोत्सव यहाँ देखें। दीर्घकाल तक इन भगवान् की पूजा, आरती और अभिषेक वे करते रहें।'

'शिल्पी के प्रति अपने मन की भावनाएँ व्यक्त कर सकें, ऐसे शब्द हमारे पास नहीं हैं। जसी लगन, जैसी निष्ठा और जैसी निस्पृहता, इस प्रतिमा को गढते समय शिल्पी के आचरण मे समाहित रही है वसी महानता के बिना इतना महान् निर्माण सम्भव भी कहाँ था। इस उत्तुग जिनबिम्ब का तक्षण करते हुए, शिल्पी ने अपने जीवन को भी पर्याप्त तक्षण दिया है। यह भगवान् बाहुबली के चरणो का ही प्रभाव है। हमें तो कभी-कभी लगता है कि शिल्पी अपने उपकरण लेकर जिन्हे गढने चला था, उन्होंने स्वय शिल्पी को गढकर धर दिया है। उसके जीवन की दिशा ही बदल दी है।'

'पारिश्रमिक की पुष्कल स्वर्णराशि का त्याग करके एक दिन इस रूपकार ने, अपनी निर्लोभ वृत्ति का परिचय दिया था। आज उसने इन्ही बाहुबली भगवान् की सेवा मे शेष जीवन व्यतीत करने का सकल्प प्रकट किया है। इस प्रतिमा से अधिक भव्य कलाकृति का निर्माण अब सम्भव होगा नही, इसलिए तक्षण से आज उसने सदा के लिए विराम ले लिया है। आजीवन उसकी धर्माराधना मे सहायक होना हमारे वशजो का दायित्व होगा।'

'यह श्रवणबेलगोल पुरातन तीर्थ है। दूर-दूर तक इसकी महिमा विख्यात है। बाहुबली भगवान् की स्थापना से अब यह और प्रसिद्ध होगा। यहाँ, इसी चन्द्रगिरि पर, एक जिनालय स्थापित करने का हमारे मन मे अनेक बार विचार आया। आज आचार्यश्री की आज्ञा के निमित्त से वह साकार हो रहा है। यह हमारा परम सौभाग्य है।'

'गगनरेश धर्मावतार स्वामी आज स्वय यहा विराजते हैं। इस तीर्थ की सुरक्षा दीर्घकाल तक होती रहे ऐसी उनकी भी भावना है। नगर मे जो दानशाला सचालित है उसे दिगम्बर जन मठ के साथ जोडा जाय। स्थायी आय के साधन प्रदान करके उस मठ की व्यवस्था को स्थायी किया जाय, ऐसी हमारी कामना है। हम धर्मावतार श्रीमान् से विनय

करते हैं कि वे मठ के लिए सहायता की घोषणा करके हमें चिन्तामुक्त करने की कृपा करें और जिनालय की आधारशिला स्थापित करके हम पर अनुग्रह करें।'

पण्डिताचार्य महोदय के सहयोग के बिना तो इस कार्य में हम असहाय ही थे। हमारी धार्मिक योजनाओं में सदैव और सर्वत्र, उनका अनुपम योगदान रहा है। 'अरिष्टनेमि' मुनिराज के रूप में वन्दनीय होकर, आज वे हमारे सामने विराजमान हैं। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन हमारा कर्तव्य है। श्रवणबेलगोल के मठ को वे सदैव प्रेरणा और परामर्श प्रदान करते रहें ऐसी हमारी उनसे प्रार्थना है।'

'अन्त में एक ही विनय हम करनी है। इस नश्वर संसार में शाश्वत कुछ भी नहीं है। एक दिन हम सबका पराभव अवश्यंभावी है। बाहुबली भगवान् की यह मूर्ति दीर्घकाल तक स्थायी हो, और सदाकाल भक्त श्रावक मिलकर इसका संरक्षण और सेवा-सम्हार करके हम पर और हमारे वंशजों पर अनुग्रह करते रहें आगामी सहस्रों वर्षों के लिए हम यह आकांक्षा करते हैं।'

'बाहुबली भगवान् आप सबका कल्याण करें।

महामात्य का भाव भीना वक्तव्य समाप्त होने पर गंगनरेश राचमल्ल ने हर्षपूर्वक मठ को ग्राम, स्वर्णादि की प्रचुर भेंट अर्पित करते हुए, गोमटेश्वर भगवान् की पूजन-अभिषेक और प्रभावना को राज्य का उत्तरदायित्व मानकर सदैव उसकी उत्तम व्यवस्था के आदेश प्रदान किये। उसी समय धर्मावतार राचमल्ल के यशस्वी हाथों से इस चिक्कबेट्ट पर उस जिनालय का शिलान्यास सम्पन्न हुआ जिसे तुम 'चामुण्डराय बसदि' कहते हो।



अब तुम्ही कहो प्रवासी ! उन बाहुबली भगवान का किसे पार मिलेगा ? कसे पार मिलेगा ?

गोमटेश्वर की महिमा अपरम्पार है।

प्रतिक्षण नूतन उनके रूप अनन्त हैं।

वे एक विशाल स्वच्छ दर्पण की भांति हैं।

यहाँ जो भी आता है, इस अनोखे बिम्ब मे अपने ही अन्तस् का प्रतिबिम्ब देखता है।

शशव, उन्हे एकबार मे भरकर घर ले जाना चाहता है।

तरुणाई उनकी अडोल थिरता मे अपना जीवनादर्श देखती है।

मातृत्व दिठौना लगाकर जगत् की कुदृष्टि से उन्हे बचाना चाहता है।

बुढापा उनकी दर्शन-सुधा का पान करके आत्मलीन हो जाता है।

कवि उनकी सौन्दर्य कल्पना मे, किंकर्तव्य विमूढ-सा रह जाता है। उसे इन उपमेय के अनुरूप उपमान ढूँढे से भी नही मिलते।

कलाकार, उनके दिव्य सौन्दर्य की अनुभूति से द्रवित, विस्मित-सा रह जाता है। उसकी सृजन शक्ति स्फुरित हो उठती है।

दार्शनिक उनकी अनन्त गरिमा मे खो जाता है। नश्वर जगत् मे विद्यमान यह अविनश्वर मुद्रा, उसके समक्ष अनेक गूढ प्रश्न प्रस्तुत करती है।

वैज्ञानिक उनकी महिमा से चकित हो उठता है। कठोरतम पार्थिव कृति मे कोमलतम अपार्थिव भावो की यह प्रस्तुति, उसे किसी रहस्य-सी लगने लगती है।

रागी, उनकी भक्ति मे तन मन की सुध-बुध भूल जाता है।

वीतरागी, उनकी छवि मे अपना शाश्वत सहज-स्वरूप निहारता है।
तब पथिक, कौन समग्र में उन्हें समझ पायेगा ?
कौन उनके दर्शन से अघायेगा ?
वे तो भव भव तक अनिमेष दर्शनीय हैं।
जन्म-जन्मान्तर तक निरन्तर आराध्य हैं।
तब चलो कामना करें—

> वे प्रिय पादारविन्द इस मन-मानस मे,
> यह मन उनके उन पुनीत पद-पद्मो में,
> जन्म-जन्मान्तर भी तब तक निवास करें—
> जब तक निर्वाण स्वयं पाया नहीं हमने।

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावत्, यावत् निर्वाणसम्प्राप्ति ॥

